Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 12 अंक 2 जुलाई 1998

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 12 अंक 2 जून, 1998

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसरकालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
दूरभाष 213737 / 211725

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 3000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा रूपा प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1. मृत्यु-चिन्तन-2, यशदेव शल्य ८५
2. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप दयाकृष्ण ९३

उन्मीलन-गोष्ठियों की कार्यवाही

1. मृत्यु-चिन्तन विषय-प्रस्ताव- मुकुंद लाठ ११८
2. अध्यास विषय-प्रस्ताव- दयाकृष्ण १२२

समीक्षा लेख

1. प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे के सौंदर्य और धर्म-विषयक विचार राधावल्लभ त्रिपाठी १२५
2. यशदेव शल्य के साहित्य और संस्कृति विषयक विचार राधावल्लभ त्रिपाठी १३५
3. 'साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन' की समीक्षागत कुछ भ्रान्तियों का निराकरण यशदेव शल्य १५२
4. भारतीय साहित्य-मीमांसा : एक आकलन कलानाथ शास्त्री १५७

पुस्तक समीक्षा

1. ऑन सर्टेंटी, ले. विट्गेंस्टाईन, अनु. अशोक वोहरा यशदेव शल्य १६३
2. कल्चर एण्ड वेल्यू, ले. विट्गेंस्टाईन, अनु. अशोक वोहरा यशदेव शल्य १६४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मृत्यु-चिन्तन-२

यशदेव शल्य

(मृत्यु विषयक पिछला लेख पढ़कर डॉ. मुकुंद लाठ ने टिप्पणी की कि पुनर्जन्म की एष्यता साधना को आगे जारी रखने के लिए है। एक बार बातचीत के क्रम में प्रोफेसर गोविन्दचन्द्रजी पांडे ने कहा था कि पुनर्जन्म का अस्वीकार जीवन को जैसे आधारहीन ही बना देता है। इस कथन में पुनर्जन्म की व्यापकतर एष्यता विवक्षित है। यद्यपि पिछले लेख में पुनर्जन्म पर विचार इन बातों को ध्यान में रखकर किया गया है किन्तु इस लेख में हम इस प्रश्न को केन्द्र में रख़कर मृत्यु के प्रश्न पर आगे विचार करेंगे।)

पिछले लेख में हमने देखा कि यद्यपि मृत्यु के साथ मनुष्य का पूर्णान्त नहीं होता : उसका पुनर्जन्म होता है इसके लिए अनेक प्रमाण मिलते हैं :[1] किन्तु पुनर्जन्म कोई बहुत एष्य स्थिति नहीं है, कम से कम अपने आप में यह एक एष्य स्थिति नहीं है। किन्तु मृत्यु के साथ मनुष्य का पूर्णान्त हो जाय, यह स्थिति भी मनुष्य को न केवल अनेष्य प्रतीत होती है बल्कि यह उसे बहुत संत्रासजनक भी प्रतीत होती है। मृत्यु से जीवमात्र में भय से ऐसा ही अनुमान होता है कि जीव मृत्यु में अपना पूर्णान्त ही देखते हैं। जैसाकि पिछले लेख में हमने देखा, मनुष्य से अवर स्तरीय जीवों में मृत्यु के साथ व्यष्टि जीव का अन्त होता होना भी चाहिए, क्योंकि उस स्तर पर जैव विग्रह केवल दैहिक रूप से ही घटित होता है चैत्त रूप से नहीं, यद्यपि चित्त उस स्तर पर भी रहता है। वानस्पतिक स्तर पर चित्त भी नहीं रहता, जीव केवल देहपर्यन्त ही रहता है। किन्तु दोनों स्तरों पर जीव सन्तान के द्वारा दैहिक पुनर्जन्म लेता है, यद्यपि यह पुनर्जन्म उसी दैहिक विग्रह का नहीं होता। किन्तु तब भी, सन्तान में संस्कार-संक्रमण होता है। यह संस्कार-संक्रमण एक

---

[1] पांडेजी ने उन्मीलन के पिछले अंक में प्रकाशित अपने लेख "पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा" में इसके लिए आगम-प्रमाण की बात की है। मैं नहीं समझता कि इसे आगम-प्रमाण के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। इसे केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि आगम भी आर्ष प्रत्यक्ष ही है, किन्तु इसकी पुष्टि साधारण प्रत्यक्ष से हुए बिना इसे केवल आर्ष प्रत्यक्ष के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रयोजन सिद्ध करता है—चेतना के विकास का। संस्कार अनुभव-संग्रह का उपाय है और यह संग्रह चेतना को विपुलतर और प्रखरतर बनाता है। संभवतः विधाता जीव-जगत् के माध्यम से अनुभव की अपार विविधता का आस्वादन भी करना चाहता है, अन्यथा इतनी विविध जीव-जातियों और उनके ग्रहण और व्यवहार के इतने विचित्र रूपों के होने का दूसरा कोई अर्थ नहीं बनता। जीव परिवेश की ओर सहज ही उन्मुख होता है और उसका अपने साथ अनुकूलन स्थापित करने के लिए नियोजनात्मक क्रियाएं करता है। इन सब क्रियाओं में एक सृजनात्मकता भी दिखायी देती है। यद्यपि व्यष्टि के स्तर पर ये क्रियाएं यांत्रिक ही होती हैं, किन्तु जाति के स्तर पर ये सृजनात्मक होती हैं---सृजनात्मकता इस रूप में कि प्रत्येक जीव-जाति चेतना के एक मौलिक सृजन-व्यापार की अभिव्यक्ति होती है : चेतना मत्कुणीय विधि से, ऊर्णनाभीय विधि से, सरीसृपीय विधि से, श्वानीय विधि आदि आदि से अपने द्वारा कल्पित अर्थों के भोग के लिए विभिन्न जीव-रूपों में देह धारण करती है और उन अर्थों के अनुसार परिवेश का नियोजन करती है। किन्तु चेतना की यह सृजनात्मकता पूर्णतः भोगवृत्तिक ही रहती है, ज्ञानवृत्तिक नहीं होती। 'भोगवृत्तिकता' का अर्थ चेतना का विषय-तादात्म्य है, इसमें चेतना भोग्य अर्थों के अनुसार ही नियुक्त होती है और उन्हीं में निमग्न रहती है। इस परवशता से ईषत् मुक्ति इसे मनुष्य-योनि में मिलती है, जब यह आत्मचेतन हो पाती है। इस आत्मचेतन स्तर को ज्ञानवृत्तिकता का स्तर कहा जा सकता है। स्पष्टतः अमीबा-योनि से मनुष्य-योनि तक के बीच असंख्य सोपान हैं, ये कोई दो ही सोपान नहीं हैं---एक भोगवृत्तिकता का और दूसरा ज्ञानवृत्तिकता का। पाशव योनियों में ये असंख्य सोपान भोगवृत्तिकता से मुक्ति के क्रम-सोपान कहे जा सकते हैं। मनुष्य में यह मुक्ति पूर्णतया सिद्ध हो जाती है ऐसा स्पष्टतः ही सही नहीं कहा जा सकता। मनुष्य में भी यह मुक्ति सहज रूप से तो केवल ईषत् ही सिद्ध हो पाती है। शेष उसमें प्रयत्नसाध्य होती है, जिस प्रयत्न का अधिष्ठान, शेष जीवों से भिन्न, व्यष्टि-चित्त में रहता है। इस मुक्ति की सिद्धि उसकी प्रतीक-रचना की सामर्थ्य के रूप में लक्षित होती है। ये प्रतीक इन्द्रियमूलक अर्थों के बजाय प्रत्ययात्मक अर्थों के अधिष्ठान होते हैं, जो अर्थ चेतना के अपनी ओर लौटने पर, प्रत्यङ्मुख होने पर, प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, भोगात्मक अर्थ जबकि इन्द्रियविषयतंत्र होते हैं प्रतीकात्मक आत्मतंत्र होते हैं। इस आत्मतंत्रता का स्वरूप भाषा, नाट्य, चित्र, या दर्शन किसी के भी उदाहरण से समझा जा सकता है। 'यह घट है' जैसा सरल और प्रकटतः इन्द्रियविषयवाचक वाक्य भी इन्द्रियविषयतंत्र अर्थ का वाचक नहीं होता, यह एक व्यापक प्रतीकतंत्र का अंग होता है, जो तंत्र चेतना के स्वातंत्र्य में रचित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है। यह स्वातंत्र्य इस शब्द या वाक्य की रचना में ही नहीं, स्वयं घट वस्तु में भी है, जिसकी रचना ही घटकार की प्रत्यय-दर्शी चेतना के द्वारा होती है।

किन्तु चेतना का यह स्वातंत्र्य अद्‌भुत होने पर भी सहज में यह एक द्वितीय स्तरीय विषयतंत्रता ही होती है, और इसके अतिरिक्त, सहजरूप में यह स्वातंत्र्य भी भोगासक्त ही रहता है। उदाहरणतः, सहज रूप में काम, क्रोध, अभिमान आदि ही मानव-चेतना को ग्रसित रखते हैं और अपने उपर्युक्त स्वातंत्र्य में वह इन्हीं के अधीन स्वतंत्र सर्जन करती है। विविध व्यंजन, शृंगार, भवन, शस्त्रास्त्र, राज्य-व्यवस्था, व्यापार, यहां तक कि बहुत सीमा तक कलाएं भी, ये सब चेतना के स्वकीय तंत्र हैं किन्तु भोग-निमित्तिक हैं। किन्तु इस स्वातंत्र्य में यह भान रहता है, चाहे कितना भी धुँधला, कि यह भोगोन्मुखता उसका आत्मप्रवास है और परिणामतः अनेष्य है। उचित-अनुचित-विवेक का आधार यह भान ही होता है। वास्तव में तो इस भान का बीज अस्तित्व मात्र में ही अन्तर्गर्भ होना चाहिए अन्यथा जीव की असंख्य भोग-योनियों में सोपान-क्रम ही नहीं होता। इस क्रम से ही चेतना आत्मचेतनता के सोपान पर अध्यारूढ़ होती है। किन्तु मनुष्य-योनि में चेतना के आत्मचेतन होने के साथ यह बीज अंकुरित और पल्लवित भी हो पाता है और भोगोन्मुखता से मुक्ति की एष्यता आत्मचेतन हो पाती है। किन्तु यह पर्येष्य स्थिति मनुष्य के लिए साध्य ही रहती है, सिद्ध नहीं हो पाती। मनुष्य-योनि इस पर्येष्यता के साक्षात्करण और इसकी सिद्धि की साधना की योनि भी कही जा सकती है। किन्तु साधना का यह मार्ग भी नितान्त वक्र और मार्गान्तरों में विभ्रमित रहता है, जैसा इससे पूर्व आत्मचेतन स्तर तक पहुँचने का मार्ग रहता है। इस स्तर पर चेतना को न केवल पाशव स्तरीय भोगासक्तियों से मुक्ति के लिए अत्यन्त कठिन प्रयत्न करना पड़ता है बल्कि आत्मा को अनात्म से पृथक्, अथवा कहें अनात्म को आत्मा से पृथक् उसके अपने अनात्म रूप में, पहचानना भी होता है। मनुष्य की वैयक्तिक स्तर पर विभिन्न पुरुषार्थ-साधनाएं, जीवन-दृष्टियों के विभिन्न रूप, दूसरे शब्दों में विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टियां, आत्मा को अनात्म से पृथक् पहचानने और साधने के प्रयत्न के ही रूप हैं। यह सब चेतना का मनुष्य-योनि के माध्यम से आत्म-साधना का प्रयत्न कहा जा सकता है। इस स्तर पर चैत्त विग्रहों के आविर्भाव के कारण साधना का प्रयत्न जातिगत रूप से पृथक् वैयक्तिक रूप भी लेता है, जातिगत रूप में तो यह क्रियाशील रहता होना ही चाहिए। यहां कहा जा सकता है कि मनुष्य में सब साधनाएं या प्रयत्न केवल वैयक्तिक स्तर पर ही घटित हो सकते हैं और इस प्रकार सिद्धियां भी वैयक्तिक स्तर पर ही घटित हो सकती हैं। बुद्ध या गान्धी, जनक या कबीर, ये सब वैयक्तिक सिद्धियों के ही उदाहरण हैं, मनुष्य-जाति की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सिद्धि के नहीं। यह सही है। वास्तव में पाशव स्तर पर भी जैव विकास जनन-कणीय रूपान्तरण (जेन-म्यूटेशन) के रूप में इसी प्रकार व्यष्टि-देह में ही घटित होता है। किन्तु यह वैयष्टिक सिद्धि समग्र योनि के प्रयत्न के फल रूप में देखी जाय या वैयष्टिक विग्रह में आकस्मिक घटना के रूप में, यह कहना विवादास्पद हो सकता है। किन्तु यदि इसे वैयष्टिक विग्रह में आकस्मिक घटना के रूप में देखा जाता है तो चेतना के विकास को चेतना के आत्मस्वरूप के अन्वेषण का फल नहीं कहा जा सकता जो कि यह प्रतीत होता है।

किन्तु मनुष्य के स्तर पर आत्मसाधना के रूप को समझने में कुछ दुर्भेद्य कठिनाइयां दिखायी देती हैं। मनुष्य के स्तर पर पुनर्जन्म वैयक्तिक चैत्त विग्रह का होने से यह संभावना सहज ही बनती है कि इस स्तर पर चेतना आत्मसिद्धि के व्यक्तिमूलक मार्ग का ही आश्रयण करे। जैसाकि मुकुंद जी के प्रश्न में पूर्वगृहीत है, व्यक्ति का पुनर्जन्म चित्त से अनात्म के निवारण की साधना के नैरन्तर्य के बने रहने के लिए और इस साधना की परिनिष्पत्ति के लिए अनिवार्य है। किन्तु तब इसका अर्थ हो जाता है कि व्यक्तियों को आगे के जन्म में परिष्कृततर रूप में जन्मना चाहिए। किन्तु ऐसा कुछ दिखायी नहीं देता। रामकृष्ण परमहंस और श्री अरविन्द यदि मुक्त भी हो गए हों तो कम से कम विवेकानंद, दयानंद और गान्धी आदि का तो परिष्कृततर रूप में जन्म होना चाहिए ही था। यह एक और आश्चर्य की बात है कि जो व्यक्ति पूर्वजन्म की स्मृति के साथ पुनर्जन्म लेते देखे गए हैं वे ऐसे व्यक्ति नहीं थे जिनका पिछला जन्म किसी साधना में बीता हो और नये जन्म में उन्होंने उस साधना को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया हो। यह सही है कि बहुत से व्यक्ति जन्म से ही साधना की उत्कृष्टतर भूमि पर दिखायी देते हैं जिनसे अनुमान होता है कि उनकी चेतना पूर्वजन्मों में साधना से परिष्कृत हुई होनी चाहिए। अन्यथा भी सभी व्यक्ति ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ जन्म लेते हैं जैसे मानो वे विशिष्ट संस्कार-संचय को साथ लेकर आये हों। फिर, यदि पुनर्जन्म होता ही है, जैसाकि कुछ उदाहरणों से सिद्ध है कि होता है, तो संस्कार-संचय भी होना ही चाहिए और इससे ऐसे व्यक्तियों को, जो किसी विशेष साधना में रत हैं, इस बात से आश्वासन मिलना ही चाहिए कि आगे के जन्मों में उनकी साधना का क्रम जारी रहेगा, चाहे ऐसा कोई क्रम दिखायी नहीं देता।

किन्तु अधिकांश व्यक्तियों का जीवन किसी साधना में रत दिखायी नहीं देता। कुछ अपवादों को छोड़कर, सब व्यक्ति लोकैषणाओं में ही निमग्न दिखायी देते हैं। वे पुत्र-पौत्र-परंपरा में ही अपना नैरंतर्य देखते हैं और यदि उन्हें अपने अगले जन्म का चुनाव करने का अवसर मिले तो वे लौकिक एषणाओं के अधीन ही चयन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करेंगे किन्हीं लोकोत्तर : आध्यात्मिक : पर्येषणाओं के अधीन नहीं करेंगे। अधिकांश यह जानते ही नहीं कि साध्य क्या है, और जो आध्यात्मिक साध्यों को लक्षित करते भी हैं उनके लिए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे ठीक जानते हैं। वास्तव में संस्कार-परंपरा का एक दूसरा माध्यम समाज होता है और इस परंपरा को संस्कृति कहा जाता है। कुछ विचारक सभी प्रकार की संस्कार-परंपराओं को संस्कृति कहते हैं, दूसरे विचारक किसी समाज द्वारा अवधारित साध्यों की साधक संस्कार-परंपरा को ही संस्कृति कहते हैं। किन्तु वास्तव में संस्कृति को ही नहीं व्यक्ति को भी संस्कार-परंपरा मात्र से नहीं साध्योन्मुख संस्कार-परंपरा से ही परिभाषित मानना चाहिए। जहां तक कोई साध्य किसी संस्कार-परंपरा का नियमन करता है वहीं तक व्यष्टि या समाज को व्यक्तित्ववान् या संस्कृतिवान् कहा जा सकता है। अन्यथा, जैसाकि हमने पीछे देखा, संस्कार-परंपराएं तो पशु-योनियों में भी रहती हैं। ये असंख्य वैयक्तिक और सांस्कृतिक परंपराएं संभवतः उसी प्रकार चैत्त-अतिचैत्त स्तर पर चेतना के आत्मान्वेषण के अभिक्रम हैं जिस प्रकार वानस्पतिक और पाशव व्यष्टि और जातियां दैहिक और दैहिक-चैत्त स्तर पर आत्मान्वेषण के अभिक्रम हैं। मृत्यु और पुनर्जन्म चेतना द्वारा आत्मान्वेषण के इस विराट् आयोजन के उपाय बनते हैं, यद्यपि प्रकटतः व्यक्ति और संस्कृतियां इस अन्वेषण में कहीं अग्रगामी दिखायी नहीं देतीं। प्रकटतः तो व्यक्तियों के समान ही संस्कृतियां भी प्रायः पथ-भ्रष्ट होती और विलुप्त होती ही देखी जाती हैं।

तब, चेतना के इस विराट् और अपार वैविध्य-वैचित्र्य का तथा अनन्त भोग और शोकमय जगद्व्यापार का अर्थ क्या है? इस पर कहा जा सकता है कि इसका इस प्रकार होना ही इसका अर्थ है। क्या यही अपने आप में पर्याप्त अर्थ नहीं है? किसी और अर्थ के लिए अनुमान करने का हमारे पास आधार भी क्या हो सकता है? पीछे हमने भोग के अनन्त वैविध्य का अर्थ : परार्थ : चेतना द्वारा इससे उत्क्रमण पाने में देखा। किन्तु इस अनुमान के लिए आधार क्या है? इसका उत्तर हो सकता है कि इस उत्क्रमण का घटित होना ही इस अनुमान की युक्तता के लिए आधार है और इस प्रश्न का होना ही इस उत्क्रमण के होने के लिए प्रमाण हो सकता है। यह प्रश्न चेतना को अपने अस्तित्व से पृथक् खड़ा कर देता है और इस अस्तित्व को एक विवेच्य अर्थ में रूपान्तरित कर देता है। अस्तित्व का यह जगत्, शोकपर्यवसायी भोगों की यह अनंतता विवेचन-विषय के रूप में चेतना में अपंने से अपने प्रवास की, अपने से अपने वियोग की चेतना को जन्म देती है। आश्चर्य की बात यह होनी चाहिए कि इस अपार जगद्व्यापार में चेतना अपने इस आत्मवियोग की विस्मृति में कैसे रहती है? किन्तु यह मनुष्य-जीवन, जिसमें यह उत्क्रमण घटित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है, यह भी क्या है? निरर्थक एषणाओं में अर्थ की खोज और फिर इनमें कोई अर्थ नहीं पाकर पश्चात्ताप! कहा जा सकता है कि निरर्थक अनुसरणों की निरर्थकता का बोध, यही क्या पर्याप्त उपलब्धि नहीं है? क्योंकि यह बोध आत्मवियोग से मुक्ति का उपाय बनता है! किन्तु इस सिद्धि का लाभ सरल कहां है? घोर पश्चात्तापों की तपन के बीच से इसका सुदीर्घ पथ जाता है। अमीबा से वानर तक की सुदीर्घ संस्कार-परंपरा के उत्तराधिकार से और उस उत्तराधिकार की प्रबल और कठोर शृंखलाओं से मुक्ति सहज कहां है? और फिर यह मुक्ति पहुँचाएगी कहां? मुझे, चेतना को, मेरे अपने पास? किन्तु मैं क्या हूँ? केवल होने का निषेध मात्र? भोग से भी भिन्न और शोक से भी भिन्न?

शायद इसका उत्तर हो, अर्थों का सर्जन और दर्शन यही मेरा स्वरूप है और यही साध्य---यही भोग का अर्थ है और यही शोक का अर्थ, जीवन का अर्थ और मृत्यु का अर्थ, आत्मा का अर्थ और अनात्म का अर्थ! 'होने' का 'होने के अर्थ' में रूपान्तरण, यही मेरा स्वरूप है और यही मेरा अर्थ! यही आत्म-वियोग से मुक्ति है, यही अपने से अपने सायुज्य की सिद्धि!

किन्तु भोगोन्मुखता को आत्म-विमुखता और भोगान्वेषण को अनात्मान्वेषण कहने का क्या औचित्य है? मृत्यु-बोध भोक्तृभाव के प्रति वैराग्य ही क्यों उपजाये? यदि यह ऐसा करता ही है तो इस बोध को भ्रान्त क्यों नहीं माना जाए? भोगान्वेषण सुख, समृद्धि और ऐश्वर्य का हेतु होता है। यदि वह अनात्म ही हो तो वह सुखकर क्योंकर होता है? संसार तो है ही चेतना के भोग-भाव से, और यह भाव जितना ही अधिक होगा संसार भी उतना ही अधिक सम्पन्न होगा। संन्यासी वनों में रहते हैं, किन्तु मानव-सभ्यता का उत्कर्ष तो धन-धान्य, सौध-प्रासाद और कला-यंत्र के उत्कर्ष से ही सिद्ध होता है। इसमें आत्म-लाभ भी है। इसके लिए अपेक्षित केवल यह है कि आत्मा को दैहिक-चैत्त देखा जाय! देह और चित्त को अनात्म रूप में देखने और आत्मा को इनसे परे देखने में युक्ति भी क्या है? देहात्म दृष्टि की सफलता और सार्थकता हम आज स्पष्ट रूप से यूरोप-अमरीका के समाजों में देख रहे हैं। उसके बल पर आज के लोग कर्मेन्दियों और ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति का अपार विस्तार और वृद्धि कर सके हैं। इसी प्रकार कलाएं और विचार चैत्त आत्मा का विस्तार हैं। निश्चय ही ये भी जीवन को समृद्ध बनाते हैं और भोग-वृत्ति को अर्थ-गहन और अर्थ-विपुल बनाते हैं। इसीसे हमारे वैराग्यपरक दर्शनों ने इन्हें आत्मा के आवरक कहा है। किन्तु सभ्यताओं और संस्कृतियों की प्रतिष्ठा तो आत्मा को देह और चित्त से अभिन्न देखने में ही है!

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रथमतः और बहुत दूर तक यह सही है, किन्तु अपनी समग्रता में यह आधारभूत रूप से भ्रामक है। देह और चित्त भी आत्मा ही हैं और परिणामतः यंत्रों और कलाओं का विकास भी आत्म-प्रापक होता है। किन्तु यह विकास तब तक उसी क्रम में होता है जिस क्रम में एक-कोशीय देह से बहु-कोशीय देह का विकास आत्म-प्रापक होता है, जब तक चेतना की वृत्ति प्रत्यङ्मुख भाव में आत्मा के इन स्तरों या रूपों का मूल्यांकन नहीं करती। पूर्वोक्त क्रम-विकास चित्त के उस सोपान तक पहुँचने में हेतु बनता है जिस पर पहुँच कर चेतना इन्द्रिय-प्रदत्त अर्थों के ग्राह से मुक्त होकर इनके उन चित्त-गोचर अर्थों का साक्षात्कार करती है जो अतल और अपार संभावनात्मक होते हैं और इस कारण जो चेतना को निर्बंध करते हैं। यह निर्बन्धता ही अनन्त संभावनात्मक उपकरण-सृष्टि और वाक्-सृष्टि को संभव करती है। किन्तु आत्मा का चेतना के इस स्तर के साथ तादात्म्य उसे आत्म-वियोग-मुक्त नहीं करता, क्योंकि यह उसके आत्म-प्रवास से लौटने में एक पड़ाव मात्र है। उदाहरणतः यह पूर्णतः संगत है कि इन अर्थों का अनुध्यायी व्यक्ति लोभ, क्रोधादि के पशुवत् ही वशीभूत हो, क्योंकि उसके पास इनकी वश-वर्त्तिता की अवांछनीयता के प्रदर्शन के लिए कोई आधार ही नहीं है। पाश्चात्य अनुभववादियों या हमारे चार्वाकों द्वारा सदसद्-विवेक के आधार का विवेचन इसका प्रमाण है। हमारे पुराणों में असुरों को ऐसी सब शक्तियों और संपदाओं से युक्त दिखाया गया है जो आधुनिक विज्ञान ने हमें प्रदान की हैं। इसीसे जब हम सुनते हैं कि न्यूटन ने लाइब्नीज़ के साथ कुछ छल-कपट किया तथा आईस्टाइन अपनी पत्नी के साथ बहुत क्रूर व्यवहार करता था, तब एक बार आश्चर्य होने पर भी इसमें कोई आत्म-विसंगति दिखायी नहीं देती, (आईस्टाइन के सम्बन्ध में देती है क्योंकि वे वैज्ञानिक के साथ-साथ संत स्वभाव के भी जाने जाते हैं।) किन्तु यदि कोई यह बात रामकृष्ण परम हंस, श्री अरविन्द या रमण महर्षि के सम्बन्ध में कहे तो यह वदतोव्याघात होगा और हमें यह कहना होगा कि या तो वे 'यह' नहीं थे अथवा 'वह' नहीं थे।

इस पर आपत्ति हो सकती है कि क्रोध, लोभादि की वशवर्त्तिता को अवांछनीय कहने में यह पूर्वगृहीत है कि आत्मा का स्थान देहेन्द्रिय आदि से अन्यत्र कहीं है, किन्तु इस पूर्वग्रह के लिए क्या युक्ति है? यहां तो यही निर्णय है कि ऐसा क्यों माना जाय? इसके दो उत्तर हो सकते हैं। एक यह कि इस वशवर्त्तिता की अवांछनीयता आत्मचेतन चेतना में सहज प्रदत्त होती है, युक्ति इसमें सन्देह के लिए जुटानी पड़ती है। चेतना मात्र में बाह्य वस्तुविषयक सत्-असत् विवेक के समान ही आत्मचेतन चेतना में आत्मविषयक सत्-असत्-विवेक भी सहज सिद्ध होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(द्रष्टव्य हमारी पुस्तकों– समाज : दार्शिनक परिशीलन तथा मूल्यतत्त्व-मीमांसा में नैतिकता विषयक अध्याय।)

यह सदसद् या सत्-असत्-विवेक आत्म-अनात्म-विवेक का ही नामान्तर है यह समझने के लिए किंचित् मनन अपेक्षित होता है। मृत्यु-बोध इस मनन का प्रेरक बनता है, क्योंकि मृत्यु लोक-जीवन की आगन्तुकता और भोगपरक अर्थों की अनात्मता उद्‌घाटित करती है।

इस पर कहा जा सकता है कि इस मृत्यु-बोध को ही अवांछनीय क्यों नहीं माना जाय? इसकी अवांछनीयता इसके लोक-जीवन के उत्कर्ष-लाभ में बाधकता से प्रकट होती कही जा सकती है। यह बात जितनी आज स्पष्ट है उतनी प्राकृतिक विज्ञान के आधुनिक विकास के पहले के समयों में नहीं थी। प्राकृतिक विज्ञान, जो ऐन्द्रिक शक्तियों के अपार प्रकर्ष का नामान्तर है, आज मानव-प्रकर्ष का प्रतिमान बन गया है और मृत्यु-बोध, सांसारिक आसक्तियों की अपार्थकता का बोध, उस संपूर्ण ज्ञान और सुख-सुविधाओं से वंचित करता है जो आत्मा को देह और चित्त-धर्मी देखने से उपलभ्य होती हैं।

यह सही है, किन्तु विज्ञान-लभ्य ज्ञान को 'ज्ञान' कहना चाहिए, यह हमें सन्देहास्पद ही प्रतीत होता है। ऊपर हमने इसी प्रसंग में पुराण-दृष्टि का उल्लेख किया है। यह तथाकथित ज्ञान इन्द्रियगम्य विषयों के व्यवहार की और नियोजन-विधि की केवल जानकारी देने वाला है, किसी वस्तु-तत्त्व का प्रापक नहीं है। और इस अर्थ में यह अज्ञान का स्रोत भी है कि यह इस जानकारी को ही एकमात्र ज्ञान मान लेने की भ्रांति उत्पन्न करता है। इस पर कहा जा सकता है कि दैहिक भोग-सुख भी मूल्यवान् हैं, यदि इन्हें आध्यात्मिक सुखों से निम्नतर मान भी लिया जाय तो! सबसे बढ़कर बात यह है कि वैराग्यपरक जीवन को सामाजिक स्तर पर मूल्य नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि सामान्यजन उस जीवन का अनुसरण नहीं कर सकते। यह सही है, किन्तु यह तो जन-सामान्य की प्रवृत्ति की बात हुई, परमार्थ दृष्टि, सत्य दृष्टि की बात नहीं। लोक तो भोग-मूलक जीवन में ही व्यस्त रहता है, अपने निभृत क्षणों में उस जीवन के मिथ्यात्व का, या उसकी मूल्यवत्ता की हीनता का यत्किंचित् आभास पाने पर भी। क्योंकि सहज रूप में लोक अपनी सुदीर्घ पाशव परंपरा के उत्तराधिकार के अनुसार ही रहता है। किन्तु उसका साध्य उसका उस उत्तराधिकार से मुक्त होना ही हो सकता है, उसे भजना नहीं।

पी-५१, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर-३०२००५

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप *

दयाकृष्ण

भारतीय दर्शन और दार्शनिकता

भारतीय दर्शन पर अगर आप कोई भी किताब पढ़ेंगे तो अधिकतर आपको यही पढ़ने को मिलेगा कि भारत में दो तरह के दर्शन होते हैं—एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का यह प्रयोग बड़ा ही अजीब सा है, क्योंकि `आस्तिक' का मतलब यहाँ इस बात से नहीं है कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं बल्कि इस बात से है कि वे वेद को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी तरह 'नास्तिक' का अर्थ यही होता है कि वे वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, न कि यह कि वे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन इसी कोटि में आते हैं तथा न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पहली कोटि में रखे जाते हैं। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि वह 'दर्शन' है, न कि शुद्ध बौद्धिक विचार या विमर्श। क्योंकि जो सत्य है वह विचार का विषय न होकर साक्षात्कार का विषय है। कहने का मतलब यह है कि उसका हम उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसेकि इन्द्रियों से किसी प्रत्यक्ष विषय का, या कहें उससे भी अधिक निकट और आत्मीय या आत्मस्थ रूप में। कहा भी है कि भगवान 'गूँगे का गुड़ है'। जिस प्रकार गुड़ के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार जो परम सत् है उसको भी अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है, बुद्धि के द्वारा नहीं।

---

* यह लेख दया जी की लेखनाधीन पुस्तक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्रोत का आरंभिक भाग है। इसमें इस पुस्तक का `प्रवेश' परिच्छेद तथा 'वैदिक परम्परा' परिच्छेद दिये जा रहे हैं। (सम्पादक)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ये सब बातें करीब-करीब पहले ही कुछ पृष्ठों में कही जाती हैं, परन्तु उसके बाद जिस प्रकार से भारतीय दर्शन की चर्चा की जाती है उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। असल में तो यह सवाल उठाया ही नहीं जाता कि आखिर दर्शन की इतनी लम्बी परम्परा इस देश में क्यों और कैसे बनी तथा उसमें इतने सम्प्रदाय किस प्रकार से हुए, और यदि बुद्धि की या तर्क की कोई स्थिति ही नहीं थी तो इतना खण्डन-मण्डन क्यों हुआ? यही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि खाली नाम गिनाने से इन मत-मतान्तरों के 2000 साल से भी अधिक के इतिहास का लेखा-जोखा कैसे समझा जायेगा! आखिर न्याय-दर्शन अगर वही है जो **न्याय सूत्र** में लिखा गया था तो उसके लगभग 2000 साल की या उससे भी अधिक की परम्परा का क्या अर्थ है, और आज हमारा दर्शन की इन विभिन्न परम्पराओं से क्या सम्बन्ध है या होना चाहिए? क्या हमारा काम केवल समझना ही है, उसके आगे हमारा कोई कर्त्तव्य रह ही नहीं जाता? क्या सब कुछ सोचा जा चुका है व समझा जा चुका है? और क्या यह विचार कि दर्शन की ये विविध परम्पराएं १७वीं या १८वीं शताब्दी तक समाप्त हो चुकी थीं ठीक है? और अगर ऐसा है तो वे क्या कारण थे कि तब तक तो उन परम्पराओं में बराबर विस्तार होता रहा और नये विचारक प्रकट होते रहे और उसके बाद एकाएक वह प्रवाह बन्द हो गया और लोगों को यह लगने लगा कि अब आगे कुछ कहने को नहीं है?

असल में बात ऐसी नहीं है, और न यही सच है कि दार्शनिक विचार की धारा अवरुद्ध हो गई है। दर्शन के इतिहास के लिखने के तरीके ने ही यह भ्रांति उत्पन्न की है कि जो कुछ कहना था, सोचना था, वह सब कहा जा चुका है और भारत की दार्शनिक परम्पराएं इन ९ गिने-गिनाये नामों में आबद्ध हैं और इनमें भी कुछ नया नहीं है, केवल जो इनके मूल ग्रन्थों या सूत्रों में लिखा गया था उसका सिर्फ विस्तार मात्र है।

परम्परागत ग्रन्थों को थोड़ा भी देखने से पता चलेगा कि यह बात सच नहीं है। दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएं सतत प्रवहमान रही हैं और उनमें नये नये विचारकों का योगदान होता रहा है। यही नहीं, बल्कि समय-समय पर ऐसे महान् दार्शनिक उत्पन्न होते रहे हैं जिन्होंने भारतीय चिन्तन को नया मोड़ दिया और आगे आने वाले दार्शनिकों के लिए नये आयाम खोले। उन्होंने अपने से पहले किये गये चिन्तन को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं किया। असल में तो उनकी दृष्टि उन नये सवालों या समस्याओं पर थी जो इनके सामने उपस्थित हुए थे और जिनका जवाब या समाधान ढूँढने की कोशिश में ये थे। दर्शन की परम्परा, या कहें बौद्धिक चिन्तन की परम्परा का स्वरूप ही यह है कि जब तक बुद्धि के सामने कोई उलझन पैदा नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होती या सवाल नहीं उठता या समस्या खड़ी नहीं होती तब तक बौद्धिक प्रक्रिया जागृत ही नहीं होती। सोचने का पहला कदम संशय है, ऐसा ध्यान से देखने पर गौतम के न्याय सूत्रों में निहित दिखाई देगा। प्रमाण-प्रमेय-व्यापार संशय के बाद प्रारम्भ होता है, हालांकि गौतम ने प्रथम सूत्र में प्रमाण-प्रमेय को संशय से पहले रखा है। पर, शायद उन्होंने इसलिए ऐसा किया कि वे प्रमाण-प्रमेय-व्यापार को दर्शन का केन्द्र बिन्दु बताना चाहते थे। और, यह एक प्रकार से सच भी है, क्योंकि यदि संशय का समाधान प्रमाण के द्वारा न किया जाय तो वह दर्शन नहीं कहलायेगा। जो लोग शुद्ध विश्वास की बात करते हैं, या कहते हैं कि केवल अनुभव ही सत्य तक पहुँचाता है उनकी दर्शन की राह पर चलने की इच्छा नहीं होती, न शायद उन्हें उसमें कोई रुचि ही होती। यह ठीक है कि गीता में कहा गया है कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', पर वहाँ जिस प्रकार के ज्ञान की बात कही गई है उसका दार्शनिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है और अगर है भी तो कम से कम सीधा न होकर कुछ टेढ़ा-मेढ़ा ही हो सकता है। एक प्रकार से गहराई से देखें तो श्रद्धा और संशय में इतना विरोध नहीं है जितना कि पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है। संशयवान् को भी आशा है कि उसका संशय समाप्त होगा, कि उसे ज्ञान मिलेगा, कि उसका विश्वास जगेगा। और यदि वह मनुष्य है तो उसे निश्चय नहीं होता कि वास्तव में जो वह विश्वास करता है वह सच ही है। हो सकता है कि उसमें कोई कमी हो, वह ग़लत हो। आखिर वह कोई सर्वज्ञ तो है नहीं, यदि वह मनुष्य है तो उसका ज्ञान अधूरा ही होगा।

बहुत से पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन को इस आधार पर 'दर्शन' कहने से इन्कार किया है कि वह तर्कनिष्ठ न होकर शब्द प्रमाण पर आधारित केवल श्रद्धा या विश्वास मात्र है। पर यह सत्य नहीं है। भारतीय दार्शनिक परम्परा बुद्धिनिष्ठ ही नहीं है, बल्कि बुद्धि के स्वरूप को अपने में इस प्रकार समाहित करती है जिस प्रकार पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। आखिर बुद्धि का स्वरूप क्या है? क्योंकि जब तक हम यह नहीं जानें हम बुद्धिनिष्ठता की बात ही नहीं कर सकते। पश्चिम के वे दार्शनिक बुद्धिनिष्ठता की बात करते हैं और कहते हैं कि फ़िलसफ़ा वही होता है जो बुद्धिनिष्ठ हो, वे भी यह स्पष्ट नहीं करते कि आखिर बुद्धिनिष्ठ होने का अर्थ क्या होता है? अगर गहराई से सोचें तो बुद्धि का स्वरूप ही यह प्रतीत होता है कि हम सहज रूप से यह सवाल उठाएं कि आखिर इसमें कोई दोष या भ्रांति तो नहीं है, क्या इसका जो विपरीत पक्ष है वह तो सत्य नहीं है? क्या उसके लिए कोई अधिक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता? संक्षेप में, क्या जो हम मान रहे हैं वह हमें मानना चाहिए और यदि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोई उसके विरोध में खड़ा होता है या उसके बारे में संशय करता है तो हमारे पास इसको सिद्ध करने का कोई आधार है?

यदि हम बुद्धि का यह स्वरूप मानें तो इसमें कोई संशय नहीं है कि भारत की दार्शनिक परम्परा इसी रूप में प्रस्तुत होती रही है। विभिन्न दर्शनों के मूल ग्रन्थ समझे जाने वाले सूत्रों से ही यह साफ़ तौर पर दिखाई पड़ने लगता है। उदाहरण के लिए, न्याय और मीमांसा सूत्र दोनों में पूर्वपक्ष और उसका खण्डन परिपक्व रूप में मिलता है। मीमांसा सूत्र में तो प्राय: उन लोगों के नाम भी दिये गये हैं जिन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में दिये गये मत के सिद्धांतों को मान्यता प्रदान की थी। यही नहीं, जैसाकि सर्वविदित है, बहुत से दार्शनिक मतों का तो हमें इन पूर्वपक्षों के द्वारा ही पता चलता है। सूत्रों से पहले के ग्रन्थों में भी इस प्रकार की परिपाटी देखने को मिलती है। यास्क का **निरुक्त**, जो वैदिक वाङ्मय के बाद करीब-करीब सबसे पहले पाया जाने वाला ग्रन्थ है, उसमें भी इस तरह की बात परिलक्षित होती है।

बहुत बार तो पूर्वपक्षों के भी पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये जातें हैं और विचारक अपनी बुद्धि का परिचय पहले उनका खण्डन करने में दिखाता है और बाद में जिस पूर्वपक्ष की स्थापना उसने उस खण्डन के द्वारा की थी उसका भी खण्डन करता है। कहने का सीधा तात्पर्य यह है कि बुद्धि का स्वरूप ही यदि खण्डन-मण्डन को माना जाय और संदेह को उसका केन्द्रबिन्दु माना जाये तो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं ने यही रूप अपनाया है और इस प्रकार कोई भी उसकी बुद्धिनिष्ठता पर सन्देह नहीं कर सकता। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन की परम्परा ने इस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया है। ऐसा नहीं है कि वहाँ खण्डन-मण्डन नहीं होता है, परन्तु दर्शन को प्रस्तुत करने के तरीके में इसको सहज और अनिवार्य रूप में अपनाया नहीं गया है।

ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में बुद्धि का स्वरूप खण्डन-मण्डन न होकर संवाद है, जो बुद्धि अपने से ही करती है, या कभी कभी किसी अन्य से। और यदि पश्चिमी दार्शनिक परम्परा को प्लेटो से शुरू हुआ मानें तो यह सत्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि प्लेटो ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ संवाद के रूप में ही लिखे थे। परन्तु एक तो पश्चिमी दर्शन की परम्परा ने इस प्रथा को अपनाया नहीं, हालांकि प्लेटो में इसका उत्कृष्टतम उदाहरण मिलता है। अगर ध्यान से देखें तो दार्शनिक ग्रन्थों के लिखने की विधि के संदर्भ में पश्चिम का आदर्श प्लेटो न होकर अरस्तू रहा है। इसलिए यदि कोई संवाद को बुद्धि का सहज रूप माने भी तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी दर्शन ने यह विधि कोई खासतौर पर अपनायी है। दूसरी ओर पूर्वपक्ष के खण्डन और सिद्धान्त की स्थापना में, और जिसे संवाद कहते हैं उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। भारतीय दर्शन ने वाद, जल्प और वितण्डा में भेद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किया है। यह भी इस पर आधारित है कि वाद में किसी व्यक्ति का अपना कोई सिद्धान्त होता है और वह उसमें प्रवृत्त इसलिए होता है कि वह उस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए तैयार है और उसके सब विरोधी पूर्वपक्षों का खण्डन करने के लिए भी तैयार है। जल्प में व्यक्ति यह जानते हुए भी कि जो वह कह रहा है वह ग़लत है, उसके लिए तर्क करता है तथा दूसरी ओर वितण्डा में उसका कोई सिद्धान्त ही नहीं होता और वह क़ेवल बहस करने के लिए बहस करता है। हालांकि न्यायसूत्र में जल्प और वितण्डा की बुराई की गई है और कहा गया है कि ऐसे लोगों से कोई बहस नहीं करनी चाहिए, पर नागार्जुन जैसे बौद्ध विचारक और श्री हर्ष जैसे दार्शनिकों ने यह विधि अपनाई है और अगर सोचें तो सहज चिन्तन की भी यही प्रक्रिया है। सिद्धांत तो बाद में बनता है, पहले तो बुद्धि चिन्तन और मनन के द्वारा सत्य को खोजती है और विभिन्न मतों की परीक्षा करती है। किसी बात को थोडी देर के लिए मान लेती है और अगर उसमें दोष दिखाई देता है तो उसे छोड़ देती है या उसमें परिष्कार करती है।

चिन्तन एक सतत प्रक्रिया है, और अगर वह जीवन का अंग है तो उसे ऐसा होना भी चाहिए। किसी सिद्धान्त को पकड़े रहना और यह समझना कि पूर्ण रूप से सत्य प्राप्त हो गया है, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है? दर्शन का इतिहास हमको यही बताता है, फिर वह इतिहास पश्चिमी दर्शन का हो या भारतीय दर्शन का।

भारतीय दर्शन को सही रूप में फिलसफा नहीं मानने का एक और कारण पश्चिमी विचारक यह बताते हैं कि वह पूर्ण रूप से बुद्धिनिष्ठ या तर्कनिष्ठ न होकर किसी पूर्वमान्यता को सिद्ध करने के लिए ही प्रवृत्त होता है या किसी अन्य प्रयोजन के लिए होता है जिसका बुद्धि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। पहली बात उसके उस स्वरूप की ओर इशारा करती है जहाँ वह किसी पूर्वप्रतिपादित विश्वास को तर्क का आधार देने की कोशिश करता है और यह बताने की कोशिश करता है कि जो श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है वह तर्क-सिद्ध या बुद्धि के द्वारा भी प्रमाणित हो सकता है। इस प्रकार के दर्शन को पश्चिमी परम्परा में 'थियॉलोजी' का नाम दिया जाता है और इस प्रकार का दर्शन वहाँ बहुतायत से पाया भी जाता है। यही कारण है कि पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में जिन दार्शनिकों ने इस बात का खुलकर विरोध किया और यह माना कि बुद्धि तर्क के द्वारा स्वयं सत्य का निर्धारण कर सकती है या सत्य को पा सकती है, उन्हें ही सच्चा दार्शनिक माना गया। यही नहीं बल्कि उनके इतिहास में इस प्रकार के पराबौद्धिक विश्वास या श्रद्धा का मूल केवल ईसाई सम्प्रदाय के विश्वासों में ही था जिनका आधार बाइबिल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में प्राप्त होने वाले ईसा के वचन थे। इसलिए उनकी परम्परा में दर्शन के केवल दो ही प्रकार होते हैं। एक वह जो ईसाई धर्म में श्रद्धा और भक्ति के आधार पर मान्य सत्यों को बुद्धि और तर्क द्वारा प्रतिपादित करने की चेष्टा करता है और दूसरा वह जो इससे हटकर स्वयं सत्य की खोज करता है। दर्शन की भारतीय परम्परा पर इस प्रकार की बात लागू करना एक दुराग्रह मात्र है, क्योंकि यहाँ उस प्रकार का स्थान किसी एक धर्म का नहीं है जैसा स्थान पश्चिमी परम्परा में ईसाई मत का है। अगर यह माना भी जाय कि वेद का स्थान कुछ-कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि ईसाई परम्परा में बाइबिल का है, तब भी उसमें और बाइबिल में जमीन-आसमान का अन्तर है। श्रुति की मान्यता उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार की बाइबिल की है। वेद की प्रामाणिकता को सीधे रूप में और पूरी तरह मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भारतीय परम्परा में केवल दो हैं, एक मीमांसा और दूसरा वेदांत।। कुछ लोग पहले को पूर्वमीमांसा कहते हैं और दूसरे को उत्तरमीमांसा। और, यह ठीक भी है कि इन दो परम्पराओं में श्रुति की प्रधानता है और उनमें श्रुति के वचनों को बुद्धि द्वारा सिद्ध करने का आग्रह भी। जैसाकि हम बाद में देखेंगे, यह भी उस प्रकार की 'थियॉलोजी' से पूर्णत: भिन्न है जिसका पश्चिमी परम्परा में बाहुल्य है और जो अक्सर वहाँ पायी जाती है। पर, इन दो दार्शनिक धाराओं के अतिरिक्त भारत में बहुत सी अन्य धाराएं भी हैं और उनमें से कुछ तो स्पष्ट तौर पर वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उसकी प्रामाणिकता को मानते हुए भी यह नहीं मानतीं कि केवल वेद ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और कोई अन्य नहीं।

इस तरह ध्यान से देखने पर यह साफ मालूम होता है कि पश्चिमी विचारकों की यह मान्यता कि भारतीय दर्शन प्रधानत: शुद्ध दर्शन न होकर, एक प्रकार से जिसे वे अपनी परम्परा में 'थियॉलोजी' कहते हैं, उसका ही एक अन्य रूप है, ग़लत है। यह मान्यता कितनी भ्रमपूर्ण है यह तो इससे ही सिद्ध हो जाता है कि भारतीय दर्शन की परम्परा में ईश्वर का स्थान बहुत ही गौण है। यहाँ तक कि बहुत सारे दर्शन तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते और जो करते हैं वे भी गौण रूप में ही करते हैं। मनुष्य-केन्द्रित विचार किसी भी संस्कृति में इतना गहरा और व्यापक नहीं हुआ है जितना कि भारतीय संस्कृति में, हालांकि यह कहना भी ठीक होगा कि मनुष्य के अध्यात्म या पारमार्थिक पक्ष पर जितना बल भारतीय चिन्तन में दिया गया है उतना शायद किसी अन्य परम्परा में नहीं। दार्शनिक लोग भी जिस संस्कृति और समाज में पले होते हैं उसी की प्रचलित चिन्तन-धारा से आबद्ध रहते हैं। पश्चिम के दार्शनिक अपनी संस्कृति के परम्परागत दार्शनिक रूपों और आयामों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से उतने ही आबद्ध हैं जितने कि दूसरी संस्कृतियों के। उन्हें शायद यह बात समझ में ही नहीं आती कि कोई दार्शनिक परम्परा ईश्वर को माने बग़ैर भी अध्यात्म केन्द्रित कैसे हो सकती है और उनको यह भी समझना मुश्किल लगता है कि श्रुति-प्रामाण्य या आगम-प्रामाण्य या शब्द-प्रामाण्य का अर्थ हमारे यहाँ उससे बिल्कुल भिन्न है जो उनकी अपनी परम्परा में बाइबिल या कुरान के प्रामाण्य में पाया जाता है।

वैसे तो ये दार्शनिक अपनी परम्पराओं को ही ध्यान से देखें तो उसमें इन्हें ऐसी परम्पराएं ढूँढने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं से इस विषय में काफी हद तक मिलती जुलती हैं। स्टोइक तथा 'एपिक्यूरियन' दार्शनिक सम्प्रदाय चेतना की उस स्थिति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे जो या तो किसी भी अन्य चीज़ से प्रभावित न हो या सदैव सुखी या आनन्दमय रहे, और इस प्रकार की चेतना की प्राप्ति वे चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते थे। यही नहीं, यदि प्लेटो के दर्शन में परम पुरुषार्थ की बात करें तो वह भी उसी प्रकार का है जैसा अनेक भारतीय दर्शनों में पाया जाता है। वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है या आत्मनिरीक्षण से प्राप्त चित्त की अवस्थाओं से हो सकता है। इसके अलावा भी अनुभव के अन्य आयाम हैं जो हमें उन मानवीय कृत्यों के द्वारा प्राप्त होते हैं जो या तो स्वयं अर्थवत्ता लिए होते हैं या किसी ऐसे अन्य अर्थ की ओर इंगित करते हैं जो उनसे गहरे रूप में सम्बद्ध है। कला और साहित्य कुछ इसी प्रकार के होते हैं और अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तो इसका प्रचुर बाहुल्य है ही। कहने का आशय यह है कि 'अनुभव' अनेक प्रकार से होता है और बुद्धि इन सबको अपने चिन्तन का विषय बनाती है। कौनसा अनुभव अधिक महत्त्व का है यह एक प्रकार से संस्कृति-सापेक्ष और व्यक्ति-सापेक्ष दोनों होता है और शायद यही दार्शनिक परम्पराओं के वैशिष्ट्य और वैभिन्न्य के मूल में है कि वे किस प्रकार के अनुभव को प्रधानता देती हैं।

पर जहाँ एक ओर बुद्धि अनुभव के अनेक आयामों पर चिन्तन करती है, दूसरी ओर वह चेतना के स्वचेतन रूप पर भी विचार करती है और विचार का यह विषय दर्शन को कुछ अन्य दिशाओं में ले जाता प्रतीत होता है। इसके अलावा दर्शन का एक अन्य केन्द्र-बिन्दु वह है जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है पर जो वास्तव में दर्शन का वह मर्मस्थल है जिसके बगैर दर्शन 'दर्शन' कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा। वह बुद्धि द्वारा बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इससे जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं वे दृष्टि के लिए ऐसी दिशाएं खोलती हैं जो उन समस्याओं से कहीं अधिक प्राणवान् और मूल्यवान् लगने लगती हैं और जिनको सुलझाए बग़ैर जीवन जीना वृथा प्रतीत होने लगता है। इसीलिए दार्शनिक कहलाने वाला, या समझा जाने वाला व्यक्ति कुछ ऐसी समस्याओं में उलझा प्रतीत होता है जो दूसरों को बिल्कुल बेमाने लगती हैं। बुद्धि का जो यह क्षेत्र है और इसकी जो समस्याएं हैं उनके प्रति जो जागरूक नहीं है या जिसको इनमें आनन्द नहीं आता वह कभी भी दार्शनिक नहीं हो सकता। जिन संस्कृतियों ने दर्शन की व्यापक परम्पराओं को जन्म दिया है उनमें बुद्धि के इस स्वायत्त जगत् को न केवल स्वीकार ही किया गया है बल्कि उसको मनुष्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी माना गया है। पर, जहाँ इसने बौद्धिक जगत् को एक स्वायत्तता प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर इसने यह भी समस्या उत्पन्न की है कि उन अधिकांश लोगों को जो इस क्षेत्र को या तो बिल्कुल ही स्वीकार नहीं करते हैं या इसको केवल व्यावहारिक साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, उनको इसकी अर्थवत्ता कैसे समझायी जाय? अधिकांश मनुष्य तो बुद्धि का प्रयोग केवल साधन रूप में ही अपने विभिन्न लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए करते हैं जिनमें अधिकांश लक्ष्य अर्थ या काम पुरुषार्थों की कोटि में ही आते हैं। बहुत हुआ तो वे बुद्धि की इस स्वायत्तता में देखे गये अर्थों की समाज, राज्य, धर्म, भौतिक या व्यावहारिक ज्ञान आदि के संदर्भ में भी उपयोगिता मान लेते हैं, कुछ लोग आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसकी ज़रूरत कम से कम वहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं जहाँ तक उन्हें दूसरों के मत का खण्डन करने की ज़रूरत पड़े या दूसरे मतावलम्बियों को ग़लत सिद्ध करने की आवश्यकता महसूस हो। पर, ये सब लोग बुद्धि को बुद्धि के जगत् में स्वतन्त्र रूप में साध्य और मूल्यवान् और सहज पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने से अचकचाते हैं। यही कारण है कि शायद ही किसी संस्कृति ने बुद्धि के स्वतन्त्र पुरुषार्थ की चर्चा की हो। यह चर्चा उन संस्कृतियों में भी नहीं मिलती जिनमें बुद्धि का वैभव अपनी चरमता में रहा है या जहाँ दर्शन और दार्शनिकों की काफ़ी प्रतिष्ठा रही है। बेचारे दार्शनिक को इसलिए हमेशा यह कहना पड़ा है कि दर्शन उसका चरम साध्य न होकर केवल किसी अन्य पुरुषार्थ का साधन है। पर यह वास्तव में केवल कहने की बात है, क्योंकि यदि उसके लिए कोई अन्य पुरुषार्थ साध्य होता तो उसको इस सब पचड़े में पड़ने की ज़रूरत ही नहीं होती। तब वह सीधे-साधे अर्थ, काम, यश, शक्ति, मोक्ष आदि के प्रलोभन में पड़कर उन्हें ही साधता। पर दार्शनिक तो दार्शनिक इसीलिए होता है कि उसे इस क्षेत्र में सहज आनन्द प्राप्त होता है और उसकी इसी में सहज गति होती है। यदि आपको किसी दार्शनिक में ऐसा न लगे तो समझ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लीजिए कि वह नकली दार्शनिक है या बेचारा ज़बरदस्ती दर्शन के क्षेत्र में ढकेल दिया गया है, जैसाकि आजकल के अधिकांश विश्वविद्यालयों में दर्शन के अध्यापक होते हैं, जिनका बस चले तो वे दर्शन से एकदम छुट्टी ले लें।

वास्तव में अधिकतर लोग बुद्धि को साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, साध्य के रूप में नहीं। अनेक लोग, जिनकी बौद्धिक क्षेत्र में कोई विशेष रुचि नहीं होती, वे भी अर्थ, काम, शक्ति आदि अर्जित करने के लिए बुद्धि का साधन के रूप में प्रयोग करते हैं और उसकी सफलता इस रूप में ही स्वीकार करते हैं कि वह इन सबको प्राप्त करने में सहायक होती है। वह व्यक्ति जो बुद्धि को केवल साधन के रूप में ही स्वीरकार नहीं करता, बल्कि कुछ हद तक साध्य रूप में भी उसकी अर्थवत्ता को स्वीकार करता है, उसे बुद्धि को शुद्ध साधन के रूप में मानने वाले लोग कुछ कुछ पागल-सा ही समझते हैं। एक प्रकार से देखें तो साधारण मनुष्य मात्र की समझ में आने वाले पुरुषार्थ केवल दो ही हैं जिनको परम्परागत विचार में अर्थ और काम का नाम दिया गया है। संस्कृतियों में इनके अतिरिक्त भी कुछ स्वतःसिद्ध मूल्य माने जाते हैं जिनका एक उदाहरण भारतीय संस्कृति में अध्यात्म के नाम से पहचाना जाता है, जिसके अनेक पर्यायवाची हैं जिनमें 'मोक्ष', 'निर्वाण', 'कैवल्य', 'निःश्रेयस्', 'अपवर्ग' आदि सर्वविदित हैं। इसलिए यदि बुद्धि का प्रयोग अर्थ और काम के लिए न हो तो उसे अध्यात्म का साधन होना चाहिए। और अगर ऐसा नहीं है तो कुछ पागलपन ज़रूर है।

पर, बुद्धि का भी अपना एक अलग क्षेत्र होता है और उसका भी अपना पुरुषार्थ होता है जो अधिकतर 'ज्ञान' की संज्ञा से इंगित किया जाता है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ वह ज्ञान है जो अध्यात्म का विषय न होकर अन्य सब क्षेत्रों के सत्य की खोज को अपना विषय बनाता है। अधिकतर इसी प्रकार का ज्ञान अन्य लोगों के लिए साधन रूप में ही मूल्यवान् होता है, क्योंकि वे उसके द्वारा अपने लक्ष्य पाने को सफल होते हैं। यही नहीं, ऐसा ज्ञान तकनीक को जन्म देता है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं और अपने जीवन को सफल मानते हैं। इसके विपरीत अधिकतर वे लोग, चाहे उनकी संख्या बहुत ही कम क्यों न हो, जो किसी ज्ञान को पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, उन्हें उस ज्ञान के प्रयोगात्मक पहलू के बारे में कोई विशेष रुचि नहीं होती। हालांकि आज सभ्यता ने जो नया रुख लिया है उसमें ज्ञान की खोज करने वाले अधिकांश लोग भी उसकी सार्थकता को उसकी व्यवहारोपयोगिता में देखने लगे हैं। यही नहीं, आज तो हर चीज़ अर्थ के तराजू पर तोली जाने लगी है और उससे कितना पैसा मिल सकता है इसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है। दर्शन ज्ञान को शुद्ध पुरुषार्थ रूप में मानने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीप होते हुए भी उससे भिन्न है, क्योंकि यहाँ बुद्धि किसी विशिष्ट क्षेत्र के ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती बल्कि ज्ञान के स्वरूप पर ही विचार करती है और अपने से यह पूछती है कि आखिर यह ज्ञान की प्रक्रिया क्या है और कोई ज्ञान सत्य है या नहीं इसका आधार क्या है और इसका निश्चय कैसे हो सकता है? यही नहीं, दर्शन में बुद्धि जीवन के समस्त क्षेत्रों और पक्षो के बारे में सोचती है और उनमें निहित आदर्शों या मूल्यों पर चिन्तन करती है। वास्तव में तो दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत् के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिरीक्षण करती हुई उन सब समस्याओं को देखती है जिनसे मानव-चेतना ग्रसित और व्यथित दोनों रहती है। पर, बुद्धि को उनको देखने, समझने और सुलझाने की कोशिश करने में जो आनन्द आता है उसी का नाम दर्शन है।

इस तरह से देखें तो दर्शन एक प्रकार से मनुष्य का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाला स्वरूप ही है और दर्शन का इतिहास मनुष्य की चेतना का बुद्धि के दर्पण में दिखाई देने वाला इतिहास है। परन्तु मनुष्य की इस चेतना का इतिहास एक ओर जहाँ उसकी संस्कृति के इतिहास से आबद्ध होता है वहीं दूसरी ओर मनुष्य के अनेकानेक आयामों के खण्ड-खण्ड रूपों में भी बँधा दिखाई देता है। परन्तु मनुष्य केवल बौद्धिक प्राणी ही नहीं है। उसके और भी अनेक आयाम हैं जिनमें वह विभिन्न जगतों का सृष्टिकर्त्ता है और उन अपनी ही सृष्ट की हुई दुनियाओं में जीता है। उन सब विभिन्न सृष्ट जगतों के उपादान और माध्यम प्रत्यय या विचार होते हैं जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध तार्किक आधार पर किया जाता है। साहित्य के जगत् का उपादान प्रत्यय न होकर बिम्ब होते हैं, हालांकि दोनों का माध्यम भाषा ही होती है और भाषा के बगैर उनकी संरचना असम्भव होती है। अन्य कलाओं के उपादान या माध्यम भाषा न होकर कुछ और होते हैं पर वे सब मनुष्य को मूल रूप में भाव-केन्द्रित ही मानते हैं और मनुष्य को भोक्ता रूप में ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। मनुष्य के सुख-दुःख के आधार पर अनेकानेक भाव-जगतों की सृष्टि होती है जिसमें अभिनिवेश मुख्यत: रसास्वादन रहता है।

ज्ञान और भाव या भावना के अलावा मनुष्य कर्म-जगत् का भी प्राणी है जिसमें उसकी चेतना विषय को इस रूप में नहीं देखती कि वह क्या है या उससे उसे सुख-दुःख होता है, बल्कि उसे इस संदर्भ में देखती है कि क्या वह वैसा है जैसा उसे होना चाहिए? एक प्रकार से वस्तु या विषय जो ज्ञात होता है वह सुख-दुःख का कारण भी होता है और चूँकि मनुष्य यह चाहता है कि सुख हो और दुःख न हो, इसलिए वह जिस वस्तु से सुख होता है उसको बनाए रखना और जिससे दुःख होता है उसे हटाना सहज रूप में चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसलिए बहुत से लोग यह मानते हैं कि कर्म केवल सुख पाने या दुःख से बचने के लिए किया जाता है। परन्तु कर्म की उत्पत्ति को केवल सुख-दुःख के संदर्भ में ही देखना मनुष्य के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि कर्म का स्रोत केवल सुख-दुःख न होकर एक ऐसी मूल्य-चेतना है जो मनुष्य को बार-बार इस बात से प्रेरित करती है कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है जैसा उसे होना चाहिए और इसके लिए वह कम से कम कुछ हद तक उत्तरदायी अवश्य है, क्योंकि उसमें उसे परिवर्तित करने की क्षमता है।

ज्ञान, भावना और कर्म के ये सब आयाम दर्शन में बुद्धि के विषय बनते हैं और मनुष्य की इन सब क्षेत्रों में जो सहज गति होती है उस पर स्वचेतन प्राणी होने के नाते आदमी सोचता है और विचार करता है कि आखिर इन सबका सत् क्या है, स्वरूप क्या है और इनके आपस में सम्बन्ध क्या हैं? दर्शन में इस तरह से मनुष्य के सभी आयाम प्रतिबिम्बित होते हैं, लेकिन वैसे ही नहीं जैसे प्रथम स्तर पर ये मनुष्य को परिचालित करते हैं, बल्कि दूसरे स्तर के, जहाँ मनुष्य इन प्रथम स्तर की बातों पर एक अन्य सिरे से चिन्तन करता है। उसमें सहज भाव से प्रश्न करने की या सवाल उठाने की प्रवृत्ति होती है। आख़िर यह सब क्या है और क्यों हो रहा है? क्या सब वैसा ही है जैसाकि होना चाहिए? मनुष्य की इस मूलभूत जिज्ञासा का नाम ही दर्शन है और विभिन्न संस्कृतियों में इस जिज्ञासा ने विशिष्ट रूप लिया है। पर, चूँकि मानव मानव है और उसकी कुछ सहज प्रवृत्तियों और उसके जगत् की मूलभूत परिस्थितियों में कुछ साम्य है इसलिए दर्शन की समस्याओं में कुछ-कुछ समानता और कुछ वैषम्य होना स्वाभाविक है। और ऐसा दर्शन में ही नहीं मनुष्य के सभी अन्य क्षेत्रों में भी मिलता है, और ऐसा मिलना एक तरह से उसके मनुष्य होने की पहचान ही है।

वैदिक परम्परा

भारतीय दर्शन या दार्शनिक चिन्तन की वह प्रक्रिया जो भारत में लगातार कम से कम तीन हज़ार वर्षों से विकसित हुई है उसका मूल उस सभ्यता में है जिसे आज हड़प्पा या मोहनजोदड़ो की सभ्यता कहा जाता है। यह सभ्यता सिंधु नदी की घाटी में फैली हुई थी और इसका पता इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही मिला था। १९२४ के आसपास इसका पहले पता लगा था और तब से आज तक अनेक खोजों के बावजूद इसमें जो लेख मिलते हैं वे अभी तक सही रूप में पढ़े नहीं जा सके हैं। कोशिश अभी तक जारी है पर उसमें कहाँ तक सफलता मिल पाएगी यह कहना मुश्किल है। परन्तु जहाँ इस क्षेत्र में कोई विशेष सफलता नहीं मिली है वहीं दूसरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ओर इस सभ्यता का विशाल विस्तार और इसकी अनेक क्षेत्रों में व्यापक कार्यकुशलता अधिकाधिक पता चली है। पर अचम्भे की बात तो यह है कि जहाँ एक ओर यह संस्कृति अपने अनेक अवशेषों में बहुत कुछ कहती प्रतीत होती है, इसकी लिपि अब तक पढ़ी नहीं जाने के कारण यह एक प्रकार से उस गूँगे व्यक्ति के समान है जो बहुत तरह से अपने को अभिव्यक्त करता है पर जिसकी बात दूसरों की समझ में कम ही आती है। इससे शायद बड़ा उदाहरण कम ही मिलेगा यह बताने के लिए कि भाषा किसी भी संस्कृति को समझने में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और जिसको समझे बग़ैर हम मनुष्य को समझ ही नहीं सकते। यह नहीं है कि इस सभ्यता ने अनेकानेक अन्य चीज़ें नहीं छोड़ी हैं। चित्र हैं, विशाल नगर हैं, समुद्र पर बंदरगाहें हैं, खाने-पीने के सामान हैं। एक तरह से सब कुछ है, पर वह सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं-सा है, और इसलिए यह मानते हुए भी कि भारत में जो कुछ भी आज है उसका मूल इस सभ्यता में ज़रूर होगा, इसके आगे या इसके अलावा कुछ और कहना मुश्किल होता है। इस सभ्यता का युग ईसा के तीन हज़ार या अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व के करीब माना जाता है। इस सभ्यता के व्यापारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध उसी काल की अन्य सभ्यताओं से पाये जाते हैं। पर भारतीय दर्शन के इतिहास की दृष्टि से तो हमें तब तक इन्तजार ही करना पड़ेगा जब तक इसमें लिखी हुई लिपि को कोई समझ पायेगा या समझ पाने का तरीका पता लगा सकेगा।

पर जहाँ इस विशाल नागरिक या नगर-केन्द्रित सभ्यता का पता लगता है वहीं भारत ही नहीं विश्व के सबसे पुराने लिखे हुए ग्रन्थ, जिनको वेद कहा जाता है, वाणी में मुखर हैं और उनको भारत में कम से कम तीन-साढ़े तीन हज़ार साल से सुरक्षित रखा गया है, अपने उस शुद्ध मौखिक रूप में जैसे कि वे शुरू में थे। उनको समझना-समझाना कितना ही कठिन क्यों न हो पर उनके बारे में वह समस्या नहीं है जो मोहनजोदड़ो की लिखी हुई मोहरों (सील) के बारे में है। उनमें भारतीय दर्शन की मूल प्रवृत्ति सहज और सजग रूप में मिलती है। वास्तव में ये कवियों और मनीषियों की रचनाएं हैं। जहाँ एक ओर इनके रचयिता इस पर गर्व करते हैं कि उन्होंने इन मंत्रों की कविता के रूप में रचना की है वहीं दूसरी ओर उनको यह भी सतत महसूस होता है कि असल में वे इसके रचनाकार नहीं हैं, केवल माध्यम मात्र हैं, और कोई पराशक्ति उनके द्वारा सत्य को उद्भासित या उद्घोषित कराती है। यह बात कोई अजीब नहीं है। न इन दोनों में कोई विरोध ही है। प्रत्येक रचनाकार यह जानता है कि कोई पराशक्ति उसको कुछ देती है, उसके माध्यम से कुछ अभिव्यक्त करती है और वास्तव में वह केवल एक निमित्त मात्र है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मनुष्य की दुविधा ही यह है कि उसको प्रयत्न तो करना पड़ता है, पर ज़ो कुछ भी वह करता है वह उसका किया नहीं होता, पर उसके द्वारा किया हुआ होता है। जो भी हो, वह सब जिसे आज 'वेद' कहते हैं और मोहनजोदड़ो की सभ्यता, ये दोनों हमारी संस्कृति में एक ही तरह से व्याप्त हैं, पर एक मुखर है और दूसरा मूक।

वेद के बारे में पहली समझने की बात तो यह है कि वे सब एक साथ ही रचित नहीं हुए थे, न एक व्यक्ति के द्वारा ही रचे गए। कहने का अर्थ यह है कि चाहे हम उनको मनुष्य द्वारा रचित, या जिसको संस्कृत में पौरुषेय कहते हैं वैसा, या मनुष्य के द्वारा रचित न होकर केवल उसके माध्यम से प्रकाशित चिरंतन सत्य-रूप मानें, दोनों अवस्थाओं में वे कुरान की तरह किसी एक ही व्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित या रचित नहीं हुए। उनके लिखने वाले अनेक ऋषि हैं जिनके नाम स्वयं वेदों में दिये हुए हैं, और उनमें बहुत से जिन गोत्रों के वे ऋषि थे वे गोत्र आज भी भारत में पाये जाते हैं। वसिष्ठ, भारद्वाज गोत्र आदि इसी प्रकार के हैं। दूसरी ओर, इनके रचनाकार एक ही समय के मालूम नहीं होते बल्कि इनकी रचनाओं में अन्तराल। कई विद्वान तो हज़ार से भी ज्यादा वर्ष का मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जो रचनाएं या मंत्र वेद के नाम से जाने जाते हैं वे सुदीर्घ कालावधि में रचे गए और यह काल इतना लम्बा था कि इसमें किसी एक स्रोत को ढूँढना असम्भव ही माना जाएगा। एक तरह से यह बात हर उस रचना के लिए लागू होती है जिसके होने में बहुत काल बीतता है, फिर चाहे वह रचना पौरुषेय हो या अपौरुषेय। कुरान की आयतें मोहम्मद साहब की जिन्दगी के अनेक वर्षों में उनके माध्यम से प्रकाश में आईं। यह बात स्वीकार करते ही सवाल उठता है कि आखिर इतने लम्बे समय में जो बात कही गई थी उसमें एकवाक्यता कहाँ तक है? ईसा ने जो कहा उसके बारे में तो समस्या और भी अधिक है, क्योंकि जहाँ तक बाईबिल के नए टेस्टामेंट का सवाल है उसमें तो ईसा के चार शिष्यों ने उनके जीवन की घटनाओं का विवरण दिया है और जो उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कहा था उसका संकलन किया है। यह बात एक आदमी की न होकर चार आदमियों की है और उन लोगों ने मोहम्मद की तरह तभी उनका वर्णन नहीं किया जब वे घटीं थीं, बल्कि ईसा की मृत्यु के बाद उन्हें स्मृति से संकलित किया। एक तरह से यही बात भगवान् बुद्ध और महावीर के वचनों के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि उनके वचनों का संकलन भी उनके शिष्यों ने ही किया और यह संकलन तो उनकी मृत्यु के कई वर्ष बाद किया गया। एक फ़र्क ज़रूर है, ऐसा कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध और महावीर के शिष्य जो भी वे कहते थे उसको उसके तुरन्त बाद ही उसी दिन दोहराते थे और एक प्रकार से उन्होंने उसको उसी रूप में याद रखने की अनेक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विधियाँ खोजीं और अपनाई थीं। परन्तु प्रारम्भ से ही इसके बारे में उनमें कुछ कठिनाई तो थी ही, इसलिए बाद में उनके शिष्यों में बार-बार कुछ विवाद हुआ। पर अगर ऐसा न भी हो तो भी अपने लम्बे जीवनकाल में बुद्ध और महावीर ने जो कहा उसमें एकवाक्यता की तलाश तो तलाश ही होगी। वह कहाँ तक मिल पाएगी, या मिल भी सकती है या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न ही रहेगा।

वेदों के बारे में भी यही बात सच है। ऐसा कहा जाता है कि वेदों को उसके मूल रूप में रखने के लिए याद रखने की अनेक विधियाँ अपनायी गईं और इन विधियों के द्वारा प्रत्येक मंत्र का वर्ण-पाठ और स्वर-पाठ जैसा शुरू में था वैसा ही उसे सुरक्षित रखने की कोशिश की गई और यह काम वेदों की अनेक शाखाओं के ज़िम्मेदार लोगों पर छोड़ा गया। आज भी जब आप द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी नाम सुनते हैं तो उससे कुछ-कुछ ऐसा ही आभास होता है कि ये दो-तीन या चार वेदों के याद करने वाले हैं या ठीक तरह से कहें तो ये उस कुल की परम्परा में हैं जिसके पूर्वज कभी इस प्रकार से वेदों की मौखिक रूप से रक्षा करते थे। एक तरह से यह बात भी उतनी ठीक नहीं है जितनी प्रथम दृष्टि में नज़र आती है, क्योंकि एक तो इसमें खाली किसी एक वेद को जानने वाले की चर्चा नहीं है और दूसरी यह इस भ्रान्ति पर आधारित है कि वेद केवल चार हैं, हालांकि यह भ्रान्ति काफी व्यापक है। क्योंकि किसी से भी पूछिए तो वह यही कहता है कि चार वेद होते हैं--ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। पर जो लोग यह कहते हैं उनसे यदि आप पूछें कि यजुर्वेद क्या है तो वे आपको यजुर्वेद जैसे किसी एक ग्रन्थ को नहीं बता पाएंगे। जो भी ग्रन्थ यजुर्वेद के नाम से उन्हें पता है वह या तो शुक्ल यजुर्वेद होगा या कृष्ण यजुर्वेद। और हालांकि दोनों 'यजुर्वेद' के नाम से जाने जाते हैं परन्तु ये एक दूसरे से काफी भिन्न ग्रन्थ हैं, हालांकि उनके भेद को केवल यह कहकर अक्सर टाला जाता है कि एक में मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं जबकि दूसरे में वे अलग-अलग मिलते हैं। पर, यह बात सच होते हुए भी पूर्ण रूप से इनके भेद को ठीक-ठीक नहीं बताती। 'यजुर्वेद' कहे जाने वाले इन दोनों वेदों में जो मंत्र हैं वे सब एक से ही नहीं हैं। अगर, दोनों के मंत्रों की तुलना करें तो बहुत से ऐसे मंत्र हैं जो केवल एक में पाए जाते हैं दूसरे में नहीं। इन मंत्रों की संख्या इतनी अधिक है कि वास्तव में उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मानना अधिक ठीक होगा। यही नहीं, ये एक ही वेद की दो शाखाएं भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें से प्रत्येक की स्वतंत्र शाखाएं भी हैं। यदि हम कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता को लें और उसकी शुक्ल यजुर्वेद की वाजनसनेयी संहिता से तुलना करें तथा कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भागों और शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण की तुलना करें तो यह स्पष्ट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है कि कृष्णयजुर्वेद के बहुत से मंत्रों का ब्राह्मण भाग शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में नहीं मिलता। तैत्तिरीय संहिता के कुल ६५१ मंत्र और ब्राह्मण भागों में से केवल ३९२ ही वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में मिलते हैं। यदि हम ब्राह्मण भाग को छोड़ दें (अलग कर दें) तथा केवल दोनों के उस मंत्र भाग की ही विवेचना करें जो समान हैं तो उनकी संख्या बहुत कम होगी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के कुल मंत्रों की संख्या ३९८८ है जबकि कण्डिकाओं का योग १९७५ है। इसके विपरीत कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण भाग का कुल योग ६५१ ही है। अत: केवल मंत्रों की कण्डिकाओं की संख्या निश्चित रूप से और भी कम होगी। अत: यजुर्वेद की दोनों शाखाओं : कृष्ण और शुक्ल : के मंत्रों में किसी समानता की संभावना और भी कम हो जाती है। कहने का अर्थ यह है कि दोनों ग्रन्थ जो यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनको सारे लोग एक ही वेद मानते हैं उनमें ज़मीन आसमान का फ़र्क है। वास्तव में उनको भिन्न-भिन्न वेद ही मानना चाहिए। शुक्ल यजुर्वेद में कृष्ण यजुर्वेद से बहुत अधिक मंत्र हैं। इस सम्बन्ध में एक और भी ध्यान देने की बात है जिस पर प्रसिद्ध वेद विद्वान गोंडा ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसके अनुसार शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में कालक्रम में बहुत सी चीज़ें बाद में जोड़ी गईं। वास्तव में तो शुरू के १८ अध्याय ही ऐसे हैं जो शुक्ल यजुर्वेद के पुराने कहे जाने वाले भागों में मिलते हैं। यही नहीं, इन्हीं पर शतपथ ब्राह्मण के पहले नौ अध्यायों में चर्चा हुई है। पर अगर गोंडा की बात ठीक है, और उस पर अविश्वास करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता, तो वाजसनेयी संहिता के चालीस अध्यायों में से बाईस अध्याय ऐसे हैं जो बाद में जोड़े गए हैं और जिनके ऊपर उस संहिता के ब्राह्मण में कोई विशेष चर्चा नहीं की गई है। फिर इस शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है?

कहने का तात्पर्य यह है कि, इन एक ही समझे जाने वाले वेदों को वास्तव में अलग-अलग मानना होगा। यही नहीं, जहाँ तक सामवेद का प्रश्न है उसके बारे में तो अक्सर सभी लोग यह मानते और जानते हैं कि उसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गए हैं। किन्तु अगर ऐसा है तो मंत्र की दृष्टि से उसको अलग वेद मानने का औचित्य ही क्या होगा? ऋग्वेद के मंत्र केवल सामवेद में ही नहीं बल्कि अन्य वेदों में भी वैसे के वैसे पाये जाते हैं, और अगर ऐसा है तो फिर इन मंत्रों को उन वेदों का भाग कैसे माना जाए? अगर हम ऋग्वेद को ही आदि वेद या मूल वेद के रूप में स्वीकार करें तो उन्हीं मंत्रों के बार-बार अलग-अलग वेदों में पाये ज़ाने से जो समस्या उत्पन्न होती है वह समस्या एक प्रकार से स्वयं ऋग्वेद पर भी लागू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होती है, क्योंकि ऋग्वेद में स्वयं ही अनेक मंत्र बार-बार दोहराए गए हैं, जैसाकि ब्लूमफील्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **ऋग्वेदिक रेपिटीशंस्** में दिखाया है।

इसके अलावा एक दो और बातें भी ऐसी हैं जिन पर 'वेद क्या है' इसकी चर्चा के संदर्भ में ध्यान देना उचित होगा। पहली बात तो प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं की है। वास्तव में एक ही वेद जो विभिन्न शाखाओं के रूप में मिलता है वह इस प्रकार का नहीं है कि उसको एक ही माना जाय, हालांकि शाखा कहने पर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है। यदि हम उदाहरण के लिए कृष्ण यजुर्वेद को ही लें तो उसकी केवल तैत्तिरीय संहिता ही नहीं है जिसकी हमने अब तक चर्चा की है, इसकी अन्य संहिताएं भी हैं जो काठक, कपिष्ठल और मैत्रायणी संहिताओं के नाम से जानी जाती हैं। इस प्रकार से ये सब 'कृष्ण यजुर्वेद' के नाम से मानी जाती हैं और बाकी तीनों को उसकी शाखाओं के रूप में माना जाता हैं।। लेकिन इसको मानने के लिए कोई विशेष आधार प्रस्तुत नहीं किया जाता। यदि हम इन चारों को ही कृष्ण यजुर्वेद की शाखा मानें तो उन सबको एक ही वेद की शाखा मानने में कठिनाई अवश्य स्पष्ट दिखाई देगी। अगर हम इनको एक दूसरे से मिलाकर देखें तो तैत्तिरीय संहिता सात काण्डों में बँटी हुई है और प्रत्येक काण्ड में प्रपाठक हैं जिनका विभाजन अनुवाकों में किया गया है। इनमें मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं। काठक संहिता में इसके विपरीत केवल स्थानक हैं जिनकी संख्या ४० है और इनको अनुवाकों में बाँटा गया है जिनमें मंत्र हैं। कपिष्ठल संहिता, जो कुछ लोगों के अनुसार काठक लोगों की ही है, उसके ४७ अध्याय हैं जिनके अनेक भाग हैं। मैत्रायणी संहिता में कुल चार काण्ड हैं जिनके अपने प्रपाठक और अनुवाक हैं और जिनमें मंत्र दिये हुए हैं। इस प्रकार प्रथम दृष्टि में ही कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन संहिताओं के, जो सब कृष्ण यजुर्वेद की शाखा मानी जाती हैं, प्रारूप भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यही नहीं, इनमें मंत्रों और अनुवाकों की आनुपूर्वी भी अलग-अलग है। अगर हम कीथ का दिया हुआ उदाहरण लें तो तैत्तिरीय संहिता की ६५१ कण्डिकाओं में से काठक संहिता में केवल ४९० मिलती हैं, मैत्रायणी में केवल ४१७ और कपिष्ठल में सिर्फ २२९। इस प्रकार काठक में तैत्तिरीय संहिता से १६१ कण्डिका कम हैं, जबकि मैत्रायणी में उनकी संख्या २३४ और कपिष्ठल में ४२२ कम है। अगर दोनों में इतना भेद है तो फिर इन्हें एक ही वेद की शाखाएं कैसे माना जा सकता है? गोंडा ने तो यहाँ तक कहा है कि वास्तव में हमारे पास मूल यजुर्वेद संहिता है ही नहीं और चूँकि आज उपलब्ध शाखाओं में इतना भेद है, हम उनके आधार पर उसका पुनर्गठन भी नहीं कर सकते, केवल कुछ अध्यायों को छोड़कर जिनका सम्बन्ध अश्वमेध से है। असल में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्येक वेद के कालक्रम में अनेक शाखाएं बनती रहीं तो यही इस बात का प्रमाण है कि उस काल के ऋषियों ने वेद को उस प्रकार से नहीं देखा था जिस प्रकार से आज हम देखते हैं, यानि उसमें कुछ घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। अगर हम प्रचलित धारणा में विश्वास करेंगे तो यजुर्वेद की १०१ शाखाएं मानी जाती हैं, सामवेद की १०००, अथर्ववेद की ९ और ऋग्वेद की २१। यह ठीक है कि बहुत-सी शाखाओं के ग्रन्थ आज मिलते नहीं हैं, परन्तु पतंजलि के समय में वेदों की शाखाओं के बारे में इस प्रकार की बात प्रसिद्ध थी और उससे ही यह सिद्ध होता है कि उसके काल में वेदों के बारे में जो मान्यता थी वह आज की मान्यता से मूलत: भिन्न थी।

शाखा-भेद से जो संहिता-भेद उत्पन्न होता है उसकी ओर अभी तक ध्यान कम ही दिया गया है, क्योंकि उस पर ध्यान देने से, जिसे हम श्रुति कहते हैं उसके प्रामाण्य के बारे में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण असम्भव-सा लगता है। किन्तु परम्परा में जो लोग इस ओर ध्यान नहीं देते उन लोगों की यह तो समस्या है ही कि चारों संहिताओं में आपस में क्या सम्बन्ध है? क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि सामवेद में उसका अपना कोई स्वतंत्र मंत्र नहीं है, और जहाँ तक अथर्ववेद का प्रश्न है, अन्य तीन वेदों की अपेक्षा उसका स्थान अन्य तीनों वेदों से कम ही माना जाता है। आज भी, अगर हम गोंडा की बात को सच मानें तो, भारत में कुछ स्थानों पर वेदपाठी ब्राह्मण अथर्ववेद के मानने वाले ब्राह्मणों से शादी का व्यवहार नहीं करते। यह अपने-आप में इतनी हास्यास्पद बात है कि मूल वैदिक संहिता को मानने और जानने वाले ब्राह्मण स्वयं में ही इतना भेदभाव करें और अपने में ही ऊंच-नीच का इस हद तक व्यवहार करें कि आपस में विवाह आदि भी करना अच्छा नहीं मानें। इस बात से श्रुति में शामिल होने वाले वेदों की महिमा कैसे अक्षुण्ण रह सकती है?

वेद की समस्या खाली संहिताओं तक ही सीमित नहीं है, हालांकि उनके सम्बन्ध में जो हमने ऊपर कहा है उससे भी गहरी समस्या मंत्र को लेकर है जो वेद का प्राण ही समझा जाता है। मंत्र का क्या लक्षण दिया जाए, किसको मंत्र कहा जाये, इस बारे में सहमति नहीं है। सायण ने, जो विजयनगर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान थे, इस प्रश्न पर गहरा विचार करके अपना अन्तिम मन्तव्य भी यही दिया था कि वास्तव में मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो भी लक्षण दें उसमें या तो अतिव्याप्ति दोष होगा या अल्पव्याप्ति दोष। कहने का मतलब यह है कि कोई भी लक्षण मानने या बनाने पर या तो ऐसे वाक्यों को मंत्र कहना पड़ेगा जो मंत्र हैं ही नहीं, या जो स्पष्ट रूप में मंत्र हैं उनमें से भी बहुतों को मंत्र की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोटि से हटाना पड़ेगा। अपने प्रसिद्ध ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में उन्होंने इस पर गहरा विचार करके आख़िर में यही कहा कि जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र है। पर, यह तो हार मानने जैसी बात हुई, समस्या का कोई निराकरण नहीं हुआ। इससे तो श्रुति के मूल पर ही आघात होता है और ऐसा लगता भी है, क्योंकि संहिताओं के अलग-अलग सम्पादित किये हुए ग्रंथों को देखने पर पता चलता है कि उसमें दिये गए मंत्रों की संख्या एक ही नहीं है बल्कि भिन्न-भिन्न है और यह भेद इसी कारण उत्पन्न होता है क्योंकि हम, किस स्थान पर एक मंत्र समाप्त हुआ है और दूसरा मंत्र प्रारम्भ, यही निश्चय नहीं कर पाते और सम्पादक, जिसने सम्पादन किया है उसने अपनी मर्ज़ी से ही यह फैसला किया है कि मंत्र का कहाँ प्रारम्भ समझा जाए और कहाँ समाप्ति। इससे जो समस्या उत्पन्न होती है उसके बारे में परम्परा में कोई विशेष चर्चा हुई प्रतीत नहीं होती और आज भी करीब-करीब वैसी ही बात है, क्योंकि विद्वान लोग अधिकतर ऐसी बातों को स्वयं करने से कतराते हैं जिनसे किसी संस्कृति की मूल मान्यताओं पर भी गहरा आघात होता है। पर समस्या केवल संहिताओं की ही नहीं है, वह तो ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों तक में भी है।

पहली समस्या तो यह है कि जो ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक या उपनिषदों के नाम से जाने जाते हैं उनमें कोई स्पष्ट भेद करना कठिन है, क्योंकि बहुत से ग्रन्थ एक से अधिक कोटि में परम्परा द्वारा ही रखे जाते हैं, जैसे जैमिनी ब्राह्मण-उपनिषद् या बृहदारण्यक उपनिषद्, जिनके नाम में ही ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों सम्मिलित हैं। इसी तरह से कुछ ग्रन्थ, जो शुद्ध रूप में ब्राह्मण समझे जाते हैं, उनमें अनेकों चर्चाएं इस प्रकार की हैं जो उपनिषदों में मिलती हैं। मिसाल के तौर पर, जैमिनीय ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं जो कुछ-कुछ वैसे ही हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलते हैं। यही नहीं, बहुत सारे उपनिषद् वास्तव में संहिताओं या किसी ब्राह्मण या आरण्यक के ही भाग हैं जिन्हें अलग करके उपनिषद् का नाम दे दिया गया है। ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक का ही एक हिस्सा है और यही बात कई अन्य उपनिषदों के बारे में भी सही प्रतीत होती है। ईशोपनिषद्, जैसा सर्वविदित है, शुक्ल यजुर्वेद का ही भाग है। इस प्रकार से उपनिषद् वास्तव में एक संकलन हैं जो किसी न किसी समय ब्राह्मणों, आरण्यकों या संहिताओं से अलग किये गए थे, परन्तु अधिकांश लोग आज उनको स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। यदि हम उन ग्रन्थों को देखें जिनमें से वे संकलित किये गए हैं तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि संकलनकर्त्ता ने उन अंशों को जानबूझकर छोड़ दिया है जो मूल ग्रन्थ में अपने को उपनिषद् के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नाम से कहते हैं। ऐतरेय उपनिषद् के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक का वह अंश जो अपने को विशिष्ट रूप से उपनिषद् कहता है उसको संकलनकर्त्ता ने ऐतरेय उपनिषद् में जानबूझकर शामिल नहीं किया और कुछ अन्य अंशों को, जिन्हें वहाँ उपनिषद् कहने की बात ही नहीं उठती, उनको ऐतरेय उपनिषद् के नाम से जाने जाने वाले ग्रन्थ में शामिल किया गया है।

उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थों के बारे में तो एक और भी समस्या है जिसकी ओर विद्वानों ने बहुत कम ही ध्यान दिया है और वह यह कि उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थ करीब-करीब १३वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं, जिसका आशय यही है कि परम्परा में किसी ग्रंथ को उपनिषद् की कोटि में रखे जाने वाले ग्रन्थों पर कोई पाबन्दी नहीं थी और जिसकी भी मर्ज़ी आती थी वह उपनिषद् की रचना कर सकता था और इस पर किसी को कोई विशेष आपत्ति नहीं थी। यह बात उन लोगों के लिए और भी परेशान करने वाली हो सकती है जो उपनिषदों को श्रुति की कोटि में ही नहीं रखते बल्कि उनको वेद के संहिता भाग से भी अधिक महत्त्व देते हैं।

उपनिषदों को ही श्रुति के रूप में स्वीकार करने वाली परम्पराओं के सामने अनेक प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि किन उपनिषदों को श्रुति का अंग माना जाये, क्योंकि उपनिषदों की संख्या १०८ तक मानी जाती है और इनमें से कुछ उपनिषद् तो १३ शताब्दी तक लिखे गए हैं। इन उपनिषदों के लिखने की परम्परा से ही ऐसा मालूम होता है कि उपनिषदों को श्रुति का स्थान सबको स्वीकार्य नहीं था, वरना लोग उपनिषद् नामक ग्रन्थ क्यों लिखते रहते? और ऐसा भी नहीं मालूम होता कि इस लेखन के खिलाफ़ कोई ज़ोरदार आवाज उठाई गई हो। यह बात इस संदर्भ में और भी महत्त्व की जान पड़ती है कि यह तो आश्चर्य की बात रहेगी ही कि आचार्य शंकर के बाद भी कम से कम 600 साल तक उपनिषद् लिखे जाते रहे हैं और उनकी गणना उपनिषदों में की जाती रही है।

इन सब तथ्यों से कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वेद को भारतीय दर्शन का आदि मूल ग्रन्थ मानने वाले लोगों ने इन बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया और इससे जो समस्याएं उत्पन्न होने वाली हैं उनकी ओर अपने पाठकों को एक तरह से या तो पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रखा है या गुमराह किया है। ज़रूरत इस बात की है कि वेदों के नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थ-परिवार नये सिरे से सम्पादित किये जाएं और उनको ऐसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाय जिसमें कालक्रम और विषयवस्तु दोनों का विचार सम्मिलित हो। पर जब तक ऐसा नहीं होता तब तक ऐसी कुछ बातें तो साफ हैं ही जो उन दृष्टियों से सम्बन्धित हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिन्होंने एक प्रकार से भारतीय संस्कृति को दिशा दी है और इस तरह जो भारतीय दर्शन के मूल में भी काफी हद तक व्याप्त मानी जा सकती हैं।

पहली बात जो किसी भी मूल संहिता को पढ़ने वाले को आश्चर्य में डाल देती है वह है वेद का खुलापन और उसका स्वतंत्र चिन्तन। ऋग्वेद के 10वें मण्डल में ऐसे कई प्रसिद्ध स्थल हैं जो किसी को भी आश्चर्यचकित किये बग़ैर नहीं रह सकते। 'नासदीय' सूक्त को ही लें! ज़रा सोचिये कि वह यह बात करता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से पहले क्या था; सत् या असत्? पर वेद का ऋषि जो इस प्रकार का चिन्तन कर रहा था उसे सहज रूप में यह लगा कि न तो हम उसको सत् कह सकते हैं और न असत्, क्योंकि उसे सत् कहने पर तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के पहले भी कुछ था! पर हम तो सृष्टि के प्रारम्भ की ही बात कर रहे हैं, इसलिए ऐसा कैसे कहा जा सकता है? लेकिन इसलिए क्या उसे असत् कहा जा सकता है? ऐसा भी कहना मुश्किल है, क्योंकि उसमें सृष्टि को उत्पन्न करने की क्षमता तो माननी ही पड़ेगी! इसलिए वेद का ऋषि कहता है कि न वह सत् है और न असत्, या कम से कम हम उसको इन कोटियों में नहीं रख सकते। इस प्रसिद्ध ऋचा का अंत तो और भी आश्चर्य में डाल देने वाला है, क्योंकि वह यह कहकर समाप्त होता है कि जो सत्-असत् के परे है, या जिसको हम परम सत् कह सकते हैं, शायद वही जानता होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व क्या था! पर इतना कहने के बाद ऋषि अपने चिन्तन को यह कहकर समाप्त करता है कि शायद वह भी नहीं जानता। ज़रा सोचिए कि एक मूल श्रुति के रूप में माने जाने वाले ग्रन्थ में इस प्रकार का चिन्तन हो, और यह बात कि भाषा उस चरम सत् के बारे में जो भी कहेगी वह अपूर्ण ही नहीं बल्कि भ्रम पैदा करने वाला भी होगा, भारतीय मानस में इतना गहरा पैठ चुका है कि आज भी वह चरम सत् के बारे में किसी भी वर्णन को लक्षणा या व्यंजना के रूप में ही मानता है, अभिधा के रूप में नहीं, और सारे लक्षण उसे, जैसा हम बाद में देखेंगे, तटस्थ रूप में ही स्वीकार्य होते हैं।

'नासदीय सूक्त' कोई अकेला नहीं है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' से प्रारम्भ होने वाली ऋचा में भी वही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है कि हम किस देवता को हवि दें, या किसकी आराधना करें, या किसकी पूजा करें? यह प्रश्न उठाने वाला ऋषि भी कुछ-कुछ वैसा ही सोचता लगता है जैसा सृष्टि के प्रारम्भ के पहले क्या था, यह जानने की चेष्टा करने वाला ऋषि। यह ठीक है कि पहले ने अपने चिन्तन का अंत एक चरम प्रश्नचिह्न के साथ समाप्त किया था, दूसरे ने एक निश्चित उत्तर देने की कोशिश की और यह कहा कि जो प्रजापति है उसको हमें हवि देनी चाहिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

या उसकी आराधना या पूजा करनी चाहिए। पर, अगर हम सोचें कि प्रजापति का अर्थ क्या है तो ऐसा लगेगा कि दूसरे ऋषि भी कुछ बहुत अलग बात नहीं कह रहे हैं, क्योंकि प्रजापति का अर्थ यह होता है कि जो प्रजा, यानि सृष्टि है, या जो सृष्ट है उसका कर्त्ता, यानि वही जिसे न सत् से इंगित किया जा सकता है, न असत् से। पर एक भेद अवश्य है। नासदीय सूक्त का ऋषि जानना चाहता है। वह दार्शनिक है, उसके मन में दर्शन का आदि स्रोत है, क्योंकि यदि जिज्ञासा नहीं हो तो दर्शन नहीं हो सकता और शंका/संदेह न हो तो भी दर्शन नहीं हो सकता। इससे भिन्न दूसरा ऋषि जानना नहीं चाहता, वह तो यह पता लगाना चाहता है कि हम किसकी आराधना करें? किसकी पूजा करें या किसको हवि दें, और वह इस बात की ओर इशारा करता है कि मनुष्य में केवल जानने की इच्छा ही नहीं है, बल्कि यह भी है कि वह अपने को किसके लिए समर्पित करे, या कोई जो उससे भी परे है उसके प्रति जो कुछ भी उसके पास अच्छा है, शिव है, सुन्दर है उसे उसके चरणों में समर्पित करे! और यह भावना उतनी ही बलशाली है जितनी जानने की। दोनों को मिलाकर ही मनुष्य सम्पूर्ण बनता है। पर केवल इन दोनों से ही काम नहीं चलेगा, क्योंकि मनुष्य का एक पक्ष क्रियापरक या कर्मपरक भी है जिसकी चर्चा हम करेंगे, पर इस संदर्भ में यह जो समर्पण करने की भावना है उसका अंत कम से कम संदेह या शंका में नहीं हो सकता। इसका उत्तर तो वही होगा जो ऋषि ने दिया था। जो भी है, और कुछ तो है ही, उसी के प्रति हम अपना समर्पण करें। कोई यह कह सकता है कि हवि की बात केवल पूजा-आराधना ही नहीं है, शुद्ध समर्पण की नहीं है, बल्कि कुछ ऐसा देने की बात है जिसके बदले में मनुष्य उस परम शक्ति से कुछ चाहता है। यह ठीक भी है। वेद में वर्णित अनेकानेक यज्ञ अनेक ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बताए गए हैं जो मनुष्य की सुख-सुविधा से सम्बन्धित हैं। पर यह सब ठीक होते हुए भी यह भी उतना ही ठीक है कि मनुष्य के गहरे से गहरे प्रश्न में एक उस चरम सत् से सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा है जो विश्व के पीछे या परे प्रतीत होता है, और काफी हद तक ऋषि का चिन्तन उसकी ओर इशारा करता है। और फिर आदमी माँगे भी तो किससे? जो चरम रूप में उसका स्रष्टा है, जिसको वह माता-पिता कहकर सम्बोधित करता है, उसी से तो माँगेगा? तो इस गौण अर्थ में ऐसी कोई ख़ास ग़लती नहीं है। दोनों ही तरह से 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' मनुष्य की लौकिक और पारलौकिक दोनों ही तरह की ज़रूरतों की ओर इशारा करता प्रतीत होता है।

शुद्ध जिज्ञासा, जो मनुष्य को यह सवाल उठाने पर मजबूर करती है कि आख़िर यह जो निरन्तर परिवर्तनशील सृष्टि है, उसके मूल में क्या है, और उन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भावनाओं के अतिरिक्त जो मनुष्य की चेतना में उस अचिन्तनीय विराट् का आभास पाने पर उद्गित होती हैं, कर्म करने की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति भी है जिस पर चिन्तन का मूल भी हमें वेदों में मिलता है। कर्म पर चिन्तन शायद सबसे अजीब चीज़ है, क्योंकि कम से कम ज्ञान में यह पूर्वमान्यता है कि स्व-रूप कोई विषय-वस्तु है जिसके ज्ञान की मनुष्य इच्छा करता है और जिसके अपने स्वयं के रूप से उसके ज्ञान की सत्यता या असत्यता निर्धारित होती है। किन्तु कर्म में तो ऐसा बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि कर्म तो किसी ऐसी वस्तुस्थिति को चरितार्थ करने की चेष्टा या प्रयत्न होता है ज़ो उस प्रयत्न या चेष्टा के बग़ैर उत्पन्न ही नहीं हो सकती। न्याय की शब्दावली में कहें तो मनुष्य का संकल्प ही उसका करण है, वह चाहे निमित्त मात्र ही क्यों न हो। पर संकल्प के अलावा मनुष्य में एक ऐसी कल्पना-शक्ति भी माननी पड़ेगी जो किसी ऐसी वस्तुस्थिति का चिन्तन करती है जो वास्तव में अभी प्रतिफलित नहीं हुई है और जो एक तरह से उसे 'प्रेय' और 'श्रेय' दोनों लगती है। इन दोनों में विरोध हो सकता है, पर मनुष्य की इच्छा तो यही है कि जिसे वह कर्म के द्वारा चरितार्थ करता है वह प्रेय और श्रेय दोनों ही हो।

वेद के अनुसार कर्म के द्वारा ही मनुष्य अपने को उस चरम सत् से जोड़ता है जिसको जानने की जिज्ञासा सहज रूप में उसके ज्ञान पक्ष में उदय होती है और जिससे वह भावना के द्वारा भी सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। पर कर्म का यह सम्बन्ध बड़ा अजीब सा है, क्योंकि कर्म पर 'औचित्य' और 'श्रेय' दोनों का समान अधिकार प्रतीत होता है। पर ये दोनों ही मनुष्य को उसको उपलब्ध साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं होते क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान, जो कि दो शक्तियाँ मनुष्य के पास किसी भी चीज़ को जानने की होती हैं, वे न तो कर्म का औचित्य ही स्थापित कर सकती हैं और न यह कि श्रेय क्या है। इसलिए या तो मनुष्य में ही कोई ऐसी शक्ति माननी पड़ेगी जो उसको यह बता सके कि उचित क्या है और श्रेय क्या है, या फिर प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा ज्ञान का कोई अन्य स्रोत मानना पड़ेगा जो उसे यह बता सके। वेद में इस प्रश्न को अनेक प्रकार से उठाया गया है और ऐसा कहने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य के अन्तर में जो देवता हैं वे मनुष्य को औचित्य और श्रेय का ज्ञान देते रहते हैं और उन्हीं के द्वारा मनुष्य को यह पता लगता है कि उसे क्या करना चाहिए। आगे चलकर लोगों ने 'वेद' को ही इस तरह के ज्ञान का स्रोत माना और उसको 'शब्द प्रमाण' कहकर इंगित किया।

कर्म पर विचार का एक नया क्रम जो वेदों में मिलता है वह यज्ञ के नाम से सुपरिचित है। यज्ञ का विधान वेदों में मिलता है और ये यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, परन्तु यज्ञ रूप में कर्म का लक्षण यही माना जा सकता है कि वह मूल रूप में एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐसी सार्वजनिक क्रिया है जिसमें सब लोग मिलकर कुछ 'देते' हैं और जिसका 'फल' ऐसा है जिसे उसमें भाग लेने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी खुद की कोशिश से नहीं पा सकता था। त्याग की भावना और मिलकर काम करना यज्ञ के दो ऐसे अंग हैं जो कर्म पर चिन्तन के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। यज्ञ का दूसरा एक अंग यह भी माना जा सकता है कि इस प्रकार का कर्म एक विशेष रूप लिये हुए होता है जिसमें कर्मों के विभिन्न अंग एक ऐसी संरचना करते हैं जो स्वयं में मनुष्य को ऐसी पूर्णता का आभास दें जिसमें सत्, शिव और सुन्दर तीनों का समावेश मिलता है। पर यह सब ठीक होते हुए भी इस संदर्भ में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बहुत सारे यज्ञ मनुष्य की छोटी-छोटी कामनाओं की सिद्धि के लिए किये जाते थे। यहाँ तक कि अपने शत्रु को मारने के लिए भी वेद में यज्ञ की विधि बताई गई है। कई यज्ञों में पशु की बलि भी दी जाती थी। इसके संदर्भ में बाद में यह बहस बहुत हुई कि जब वेद में हिंसा की निन्दा है तो फिर वही वेद हिंसा को कैसे स्वीकार कर सकता है? आज के कुछ लोग तो यह भी नहीं मानते कि यज्ञ में जो पशु-बलि का विधान है वहाँ 'पशु' से वास्तव में अर्थ जीते-जागते पशु से था।

पर यह मान भी लें कि प्रकटत: पशु के अर्थ में प्रयुक्त शब्दों का वास्तव में अर्थ कुछ और है तब भी यह तो मानना पड़ेगा ही कि जैमिनि से लेकर सायण तक बहुत से लोग यह मानते थे कि बहुत से यज्ञों में पशु-बलि का विधान वेद करते हैं और इसी को सच मानकर वे यज्ञों में पशु-बलि भी करते थे। यह बात इससे और भी पुष्ट होती है कि इस संदर्भ में हिंसा के बारे में जो वाद-विवाद हुआ उसमें यह कहा गया कि यज्ञ के संदर्भ में की गई हिंसा वास्तव में 'हिंसा' है ही नहीं।

यज्ञ के संदर्भ में केवल 'हिंसा' की ही बात नहीं है, बल्कि जो और भी महत्त्व की बात है वह यह है कि यज्ञ की विधि क्या है? क्योंकि यज्ञ तभी सफल माना जा सकता है जब वह ब्राह्मण ग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार किया जाए। इस विधि में कोई भी कमी हो तो यज्ञ का फल मिलने में बाधा हो सकती है। यही नहीं, कुछ लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि ऐसा होने से उसका फल उल्टा भी हो सकता है। इसी संदर्भ में जैमिनि के मीमांसा सूत्रों का महत्त्व माना जाता है, क्योंकि वहाँ यज्ञों की विधि के बारे में सम्पूर्ण रूप से विचार किया गया है और अनेक स्थानों पर मूल ग्रन्थों में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को दूर करने की कोशिश की गई है। यही नहीं, उन्होंने प्रत्येक यज्ञ की विधि को भी निश्चित रूप दिया और इसलिए वेद की कर्मकाण्डपरक व्याख्या की जिसके कि वे प्रधान स्रोत माने जाते हैं। और चूँकि यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण होता है इसलिए यज्ञ में वर्णानुपूर्वी स्वरानुपूर्वी और क्रियानुपूर्वी एक तरह से अनिवार्य हैं, क्योंकि इनके बग़ैर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यज्ञ का फल मिलना अनिश्चित है। परन्तु जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों में यज्ञों की विधियों को एक सुनिश्चित रूप देने के संदर्भ में उन अन्य विधियों का खण्डन किया जो उनके पूर्ववर्ती ऋषि मानते थे और जिनका नाम उन विधियों से यहाँ तक जुड़ा हुआ था कि जैमिनि ने उनका नाम लेकर ही उन विधियों का खण्डन किया। पर अगर ऐसा है तो यह मानना पड़ेगा कि जैमिनि के पहले जो यज्ञ किये जाते थे वे उनके अनुसार ठीक नहीं थे और जिन लोगों ने वे किये वे पाप के भागी हुए, या कम से कम उन्हें उस फल की प्राप्ति नहीं हुई जिसके लिए उन्होंने वे यज्ञ किये थे। एक बात और जो ध्यान देने की है वह यह है कि मंत्र क्या है इसमें भी मतभेद है और जैसाकि हमने पीछे देखा, सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में यहाँ तक कह डाला है कि मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो भी लक्षण देंगे, उसमें अल्पव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष होंगे। इसलिए जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र है या उसे ही मंत्र माना जाना चाहिए।

पर याज्ञिकों की बात करते ही एक अन्य समस्या उत्पन्न होती है, और वह यह कि याज्ञिक कौन है? वास्तव में जो यज्ञ करते या कराते हैं वे किन्हीं ग्रन्थों को प्रमाण मानने वाले नहीं होते। वे तो वही विधि स्वीकार करते हैं जो उनके अपने समय में स्वीकृत होती है। कुछ दिन पहले इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान फ़्रिट्ज़ स्टॉल ने केरल में एक परम्परागत यज्ञ आयोजित किया था जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ 'अग्नि' में वर्णन किया है और जिसकी उन्होंने फिल्म भी बनाई थी। यह यज्ञ केरल के प्रसिद्ध नम्बूदरी ब्राह्मणों द्वारा कराया गया था। स्टाल के अनुसार, जब वहाँ उन लोगों को यह बताया गया कि उनकी अपनाई गई विधि और वह विधि जो श्रौत सूत्रों में वर्णित है उनमें भेद है तो वे अपनी विधि को ही ठीक मानकर यज्ञ करते रहे।

इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक यज्ञों की असली विधि तो वह थी जो याज्ञिक अपनी परम्परा के अनुसार करते थे, न कि वह जो श्रौत सूत्रों में बताई गई थी। और चूँकि ये परम्पराएं देश, काल और कुल के भेद से अलग-अलग रही होंगी इसलिए इनके अनुसार होने वाले यज्ञ वैदिक यज्ञ कहे जाने पर भी एक से नहीं होंगे। विधियों की यह विविधता यज्ञ के 'श्रुतिपरक' होने पर कहाँ तक असर डालती है, यह सोचने की बात है। पर इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि खुद श्रौत सूत्रों में भी कुछ ऐसी विधियों का वर्णन है जो नियमों के संदर्भ में भिन्न प्रकार की कही गई हैं। बोधायन श्रौत सूत्र का वह अंश, जो द्वैध सूत्रों के नाम से जाना जाता है, उन विधियों का वर्णन करता है जो उसकी अपनी बताई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गई विधियों से भिन्न हैं परन्तु जिसका उस सूत्र की परम्परा को मानने वाले कुछ अन्य लोग अनुसरण करते हैं। इससे ज्यादा अचम्भे की बात क्या हो सकती है कि बौधायन की अपनी परम्परा में ऐसे लोग हों जो उसकी बताई गई विधियों को नहीं मानें और कुछ अन्य विधियों का पालन करें और उन विधियों का वर्णन स्वयं बौधायन श्रौत सूत्र में सम्मिलित किया जाय? यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये विधियाँ विकल्पों के रूप में नहीं दी गई हैं, यानि उस रूप में जहाँ श्रुति के अनुसार कई स्थानों पर स्वयं विकल्प की व्यवस्था दी गई है, जैसाकि जैमिनि ने कई बार कहा है। पर यह तो विकल्प नहीं होकर ऐसी विधियों का वर्णन है जिन्हें कुछ अन्य लोग अपनाते थे, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार जैमिनि ने अनेक अपने पहले के ऋषियों की यज्ञ से सम्बन्धित विधियों का वर्णन किया है और जिनका उसने अपने मीमांसा सूत्र में खण्डन भी किया है।

विश्वविद्यालय मार्ग, बापू नगर,
जयपुर-३०२००४

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन-गोष्ठी-१

२८ दिसम्बर १९९८ को उन्मीलन-गोष्ठी की बैठक राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग में हुई। इस बैठक में डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. योगेश गुप्ता, डॉ. मुकुंद लाठ, श्री पंकज बासोतिया, श्री यशदेव शल्य तथा दर्शन विभाग के शोधछात्रों ने भाग लिया।

इस बैठक में डॉ. मुकुंद लाठ ने उन्मीलन के जनवरी, १९९८ अंक में प्रकाशित मेरे लेख 'मृत्यु-चिन्तन' का सारांश प्रस्तुत किया। इस लेख के प्रतिपादन पर टिप्पणी करते हुए मुकुंद जी ने कहा कि मैंने उस लेख में पुनर्जन्म की संभावना और उसके तथ्य को स्वीकार तो किया है किन्तु उसको एष्य नहीं माना है। किन्तु यदि पुनर्जन्म नहीं हो तो व्यक्ति की नैतिक-आध्यात्मिक साधना का एक जीवन में ही अंत हो जाय। इसलिए पुनर्जन्म आध्यात्मिक अन्वेषण की अनवरतता के लिए आवश्यक और एष्य है।

इस टिप्पणी का उत्तर देते हुए मैंने यह स्वीकार किया कि यदि पुनर्जन्म नहीं हो तो व्यक्ति के लिए मृत्यु जीवन के परम शून्य में अवसान की वाचक हो जाय और इस प्रकार एक अत्यन्त भयावह स्थिति हो जाय। पुनर्जन्म होने पर मृत्यु केवल इस जन्म के सम्बन्धों और परिस्थितियों के अंत की वाचक हो जाती है जिसके बाद व्यक्ति नयी परिस्थितियों और सम्बन्धों में अपने जीवन का क्रम आरंभ कर सकता है और इस जीवन के अपूर्ण अन्वेषणों को पूरा करने की आशा भी कर संकता है।

इसके अनन्तर डॉ. भटनागर, श्री बासोतिया और डॉ. योगेश गुप्ता ने प्रश्न उठाये। डॉ. भटनागर के प्रश्न निम्न थे—

1. आपका मानना है कि आत्मा पहले से ही वर्तमान नहीं रहता अपितु आत्म-चेतन अवस्था में उसका उद्भव होता है। यह धारणा आत्मा के विषय में इस दूसरी धारणा से विरोध रखती है कि आत्मा का न तो उद्भव होता है और न अवसान।

   दूसरे यह बात स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है कि आप आत्म-चेतना से क्या अर्थ लेते हैं? कम से कम दो प्रकार से 'आत्मचेतन' होने की बात की जा सकती है। प्रथम तो इस रूप में कि 'आत्मा' शब्द का ऐहिक सन्दर्भ में जीव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अर्थ लेते हुए आत्म-चेतन होने की बात की जाय। इस रूप में 'आत्म-चेतन' होने का अर्थ अनेक प्रकार से समझा जा सकता है :

जैसे, जब आत्मा से उस सत्ता का संकेत हो जो इच्छा, संकल्प आदि से मुक्त हो, जिसे विषय की अपेक्षा नहीं हो, जो नित्य, कूटस्थ हो, जिसके लिए अन्य जैसा कुछ नहीं होता, जैसाकि एक सुदृढ़ भारतीय परम्परा में माना जाता है, तब आत्म-चेतन होना उस सबसे विमुख होना होगा जो ऐहिक है। उस स्थिति में उद्‌भव की बात कैसे की जा सकेगी? क्योंकि आत्मा के नित्यत्व के साथ आत्मचेतन होना भी नित्य होगा। तब पुनर्जन्म की बात आत्मा को लेकर नहीं हो सकती।

2. लोक में बलिदान अथवा शहीद होने की कल्पना में यह अन्तर्निहित है कि बलि तो जीवन की दी जाती है, यद्यपि जिस लक्ष्य/साध्य के लिए बलि दी जाती है वह स्वयं एक उत्कर्ष की स्थिति का निर्देश करता है। फिर भी जीवन में जो भी संभावनाएं होती हैं बलि उन सबका उत्सर्ग है। उस सन्दर्भ में मृत्यु किसी सुखद स्थिति की परिचायक नहीं है और यह बात कूटस्थ आत्मा के सन्दर्भ से बाहर ऐहिक जीव के सन्दर्भ में ही कोई अर्थ रखती है।

3. ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु की चेतना अपने विषय में उस चेतना से भिन्न है जो दूसरे की मृत्यु के अवसर पर होती है। दूसरे की मृत्यु से परिचय किसी न किसी अवस्था में हर व्यक्ति को होता है। उसका अनुभव, अपवादों को छोड़कर, दीर्घकालिक रूप में प्रभावी नहीं होता। कुछ ऐसे जागतिक सन्दर्भ संभव हैं जिनमें अन्य की मृत्यु पीछे रहने वालों के लिए दीर्घकालिक रूप में दुःख का कारण हो और वैराग्य उत्पन्न हो जाय। अन्यथा संसार हमें पुनः बाँध लेता है।

स्पष्ट है स्वयं मुझे मृत्यु की चेतना मृत्यु के रूप में नहीं होती अपितु उससे भय के रूप में होती है। परन्तु यह साधारण अनुभव नहीं है। भय का कारण कुछ विशिष्ट प्रकार की स्थितियाँ होती हैं। यूं साधारणतया फर्स्ट पर्सन के रूप में मृत्यु का ध्यान, अपनी मृत्यु हो सकती है इस बात की ओर ध्यान, कम ही होता है। इस प्रकार केवल मृत्यु के विचार से व्यक्ति सार्थकता की तलाश कर रहा है—यह कहने के अवसर यदा-कदा ही आते हैं।

डॉ. भटनागर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मैंने कहा—

1. आत्मा को मैं न जरणशील और मरणशील मानता हूँ और न अजर और अमर, क्योंकि आत्मा को मैं कोई वस्तु नहीं मानता। आत्मा को मैंने चेतना के आत्मान्वेषण की पार्यन्तिक स्थिति : निष्पाद्य स्थिति : के रूप में देखा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके पार्यन्तिक, अन्वेषण का निष्पाद्य, होने से इसका कोई अस्तित्व नहीं है, अस्तित्व तो अन्वेषण का और अन्वेष्टा का है—यदि इसे अस्तित्व कहा जा सके तो! क्योंकि 'अस्तित्व' कहने से एक स्थिर वस्तु का बोध होता है जबकि यह भाव्योन्मुख भाव है। यह निष्पाद्य आत्मा चेतना में अलक्षित रूप में प्रथमत: अहंकार रूप में प्रकट होता है और अनन्तर लक्षित रूप में अस्मिता-बोध के रूप में। यह अस्मिता-बोध अहंकार का लक्षित रूप : लक्षित अहंकार : कहा जा सकता है। यह अस्मिता-बोध चेतना के आत्म-चेतन होने की अपेक्षा करता है। चेतना के आत्म-चेतन होने का अर्थ है चेतना का अपनी ऐन्द्रिक, आवेगात्मक तथा अन्य चैत्त स्थितियों का विषयकरण कर उनके विषयी के रूप में चेतन होना। यह चेतना स्वयं अपनी विषयिता का भी चैत्त स्थिति के रूप में विषयकरण कर सकती है। इस प्रकार 'यह पत्थर है' यह कथन चेतना के आत्मचेतन होने का द्योतक है क्योंकि इसमें 'यह' विषय के विषयी से पृथक् निर्धारण का वाचक है, ठीक इसी प्रकार का यह वाक्य है—'मेरे सिर में दर्द हो रहा है'। इसमें 'मेरे सिर में दर्द का होना' पृथक् विषय रूप में निर्धारित है, इसी प्रकार का यह तीसरा कथन है 'हाँ, मैं देख रहा हूँ।' इसमें किसी आत्मसाक्षात्कार की विवक्षा नहीं है, इसमें केवल चेतना में विषयि-विषय भेद के घटित होने की विवक्षा है। इसमें इच्छा, संकल्प आदि से मुक्त या उनमें बद्ध आत्मा की कोई बात नहीं है।

2. मेरे लेख में ऐसी कोई भी बात नहीं कही गई है जिसे लेकर यह प्रश्न उठाया जा सके। मैंने बलिदान में मृत्यु को सुखद नहीं कहा है। हाँ, यह मानने वाले कि बलिदान में मरने पर स्वर्ग मिलता है, मृत्यु को सुखद भी मान सकते हैं। किन्तु मेरे लेख में उसका कोई प्रसंग नहीं है।

3. इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए उस स्थिति की कल्पना करना उपयोगी होगा जिसमें मृत्यु की संभावना ही नहीं है। 'जीवन का अर्थ' पद में 'जीवन के होने के अर्थ की' और 'होने' में 'नहीं होने की संभावना' की बात निहित है। जहाँ मृत्यु की संभावना ही नहीं हो उसमें 'जीवन' का व्यावर्त्तक केवल 'निर्जीव वस्तु' होगा और उस प्रकार के 'जीवन' के अर्थ-विचार का रूप नितांत भिन्न प्रकार का होगा। 'मृत्यु की ओर मनुष्य का ध्यान कम ही जाता है' यह ठीक है, किन्तु तब उससे भी अधिक ठीक यह है कि जीवन के अर्थ के प्रश्न की ओर हमारा ध्यान और भी कम जाता है। किन्तु इस बात से आप कहना क्या चाहते हैं?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री पंकज ने निम्न टिप्पणियाँ कीं—

1. मृत्यु-बोध तो मृत्यु के भय से मुक्त करने वाला ही होगा।
2. सार्थकता की तलाश की प्रेरणा मृत्यु-विचार के अतिरिक्त जीवन (उसके ऐहिक पक्ष) से भी प्राप्त हो सकती है!
3. ऐहिक जीवन में जो भी कुछ है वह सब निस्सार है, यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता। बहुत कुछ ऐसा भी होता है जो सार्थक हो और उसी रूप में काम्य हो, जैसे प्रेम।

मेरे उत्तर

1. मैंने मृत्यु-बोध को मृत्यु से भय का उत्पादक नहीं कहा है।
2. दूसरे प्रश्न का उत्तर ऊपर दे दिया गया है।
3. 'ऐहिक जीवन में सब निस्सार है' मैंने ऐसा नहीं कहा, यह कहा है कि 'किसी भी ऐहिक सिद्धि की सार्थकता में संदेह हो सकता है।'

डॉ. योगेश गुप्ता का प्रश्न था—

यदि आत्मा के उद्भव की बात करनी है तब 'आत्मा' के स्थान पर किसी अन्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। आपका प्रयोग प्रसिद्ध प्रयोग से भिन्न है, इसलिए भिन्न पद की अपेक्षा रखता है।

इस पर मेरा उत्तर था कि—

'आत्मा के उद्भव' में 'उद्भव' का प्रयोग मैंने उस अर्थ में नहीं किया है जिस अर्थ में 'बीज से अंकुर के उद्भव' में इस शब्द का प्रयोग होता है। हाँ, मैंने आत्मा का स्वरूप सामान्य धारणा से भिन्न प्रतिपादित किया है, किन्तु आत्मा ही का स्वरूप प्रतिपादित किया है, किसी अन्य वस्तु या तत्त्व का नहीं। किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि मैंने आत्मा का उद्भव नहीं कहा है बल्कि आत्मा के लिए प्रतीक बनने वाले आत्म-बोध का उद्भव कहा है।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन गोष्ठी-२

उन्मीलन की दूसरी गोष्ठी 6 मार्च, 1999 को राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में हुई। इस बैठक में प्रो. दयाकृष्ण, डॉ. नंदकिशोर शर्मा, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. सरला कल्ला, डॉ. योगेश गुप्ता, सुश्री रंजू महता, सुश्री अंजू ढड्ढा, डॉ. रामचंद्र त्रिवेदी, यशदेव शल्य तथा बहुत से विद्यार्थियों ने भाग लिया। इस गोष्ठी में दया जी ने **अध्यास** पर अपने विचार रखे। उन्होंने कहा कि---

शंकर के **ब्रह्मसूत्र** पर लिखे भाष्य का आरम्भ अध्यास पर विचार से होता है। उस भाष्य को **अध्यास-भाष्य** भी कहा जाता है। किन्तु उससे पूर्व किसी ने अध्यास पर विचार किया या नहीं, यदि किया तो उसके या उनके विचार से शंकर के विचार में क्या भेद है, इस पर कोई चर्चा किसी ने नहीं की है, जोकि की जानी चाहिए थी। दया जी ने स्वयं भी इस पर कोई चर्चा नहीं करके शंकर के अध्यास-विचार पर विचार आरम्भ किया। उन्होंने कहा कि अध्यास की युक्तियुक्तता को लेकर मूलभूत आपत्ति यह है कि जबकि इसके उदाहरण 'रज्जु में सर्प का अध्यास' में रज्जु और सर्प दोनों का अस्तित्व है और दोनों प्रत्यक्ष के विषय हैं---एक अब और एक कभी दूसरे समय में---जगत् और ब्रह्म में एक : जगत् : जबकि प्रत्यक्ष का विषय है दूसरा : ब्रह्म : न प्रत्यक्ष का विषय है और न अनुमान का। एक प्रकार से तो वह कोई विषय है ही नहीं। कई लोग उसे अनुभूति का विषय कहते हैं किन्तु वह असाधारण लोगों की असाधारण अनुभूति ही कही जा सकती है। इसलिए ब्रह्म पर जगत् के आरोप की बात ही कैसे बनती है?

अब जगत् के मिथ्यात्व की बात लें। यद्यपि रस्सी में सर्प दिखायी देने में भ्रान्ति है किन्तु उससे उत्पन्न भय में कोई भ्रान्ति नहीं है, न वह मिथ्या होता है। अब, रस्सी में सर्प का अध्यास कैसे होता है? कल्पना से? किन्तु कल्पना क्या है और कल्पित का स्वरूप क्या है? काव्य और कलाएं सब कल्पना की सृष्टि ही होते हैं। उन्हें भ्रम तो नहीं कहा जा सकता! इसी प्रकार नाटक में स्वयं अध्यास-स्थिति की सृष्टि करते हैं।

इसके अनन्तर कांट का उल्लेख करते हुए दया जी ने कहा, वह दिखाता है कि बाह्य जगत् विषयक हमारा सम्पूर्ण ज्ञान-व्यापार ही बुद्धि द्वारा सहज कल्पित संरचनाओं का सत् पर आरोप है। (यह कहने में सम्भवत: उनका निहित आशय था कि, किन्तु इसे हम अध्यास नहीं कह सकते!)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके अनन्तर सांख्यीय 'अविवेक' का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि उसके अनुसार आत्मा में, पुरुष में, शरीर का अध्यास होने की बात वह कहता है, किन्तु शरीर उसके अनुसार, उस प्रकार मिथ्या नहीं है जिस प्रकार शंकर के अनुसार है।

इसके अनन्तर पुन: 'कल्पित रचना के यथार्थ पर आरोप' की बात करते हुए दया जी ने कहा कि "रचना अपने आपमें मिथ्या नहीं हो सकती।" यहां उनका आशय पुन: कला से ही था।

दया जी के व्याख्यान का सारांश प्रस्तुत करते हुए मैंने कहा कि दया जी का प्रयोजन यहां अध्यास विषयक शांकर मत को प्रस्तुत करना या उसकी आलोचना करना उतना नहीं है, उनका प्रयोजन इस विषयक विचार की नयी दिशाएं खोलना है। कलात्मक रचना आदि के इस प्रसंग में उल्लेख का यही अर्थ है। किन्तु अध्यास के सम्बन्ध में एक आधारभूत बात यह है कि रज्जु में सर्प देखने में अध्यास तभी है जब देखने वाले को प्रस्तुत में रज्जुत्व का बोध या संदेह नहीं हो। यह बोध हो जाने पर अध्यास समाप्त हो जाता है और पूर्व बोध अध्यास के रूप में प्रकट हो जाता है। इसलिए कला-रचना को अध्यास नहीं कहा जा सकता।

जहां तक कांट का सम्बन्ध है, जगत् को व्यवहार और सत् को अनभिलाप्य कहने में भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि भी यही थी—इस भेद के साथ कि कांट ने इस आरोप को अविद्यामूलक नहीं कहा, यद्यपि उसके प्रतिपादन को इस प्रकार समझा जा सकता है। किन्तु यदि जगत्-कल्पना से परे स्वलक्षण वस्तु जैसे किसी सत् को स्वीकार नहीं किया जाय तो जगत्-कल्पना आरोप नहीं होकर चेतना का अर्थोन्मेष हो जाती है।

इसके अनन्तर विचार-विमर्श का आरम्भ करते हुए नन्दकिशोर जी ने कहा कि अध्यास पर वेदान्त-परम्परा में बहुत विस्तृत विचार हुआ है और वे सब प्रश्न भी उठाये गये हैं जो दया जी ने उठाये हैं। जैसे, जगत् तो हमें प्रस्तुत है, किन्तु ब्रह्म प्रस्तुत और अनुमेय नहीं है, यह प्रश्न शंकर ने उठाया है और इसका उत्तर दिया है। जहां तक कला आदि का प्रश्न है, ये अध्यास के अन्तर्गत आते ही नहीं, क्योंकि इनमें सत्य और कल्पना में विरोध नहीं होता। उदाहरणत: नाटक में यदि अभिनेता अपने को वास्तव राम ही मान ले तो वह फिर जीवन भर सीता के विरह में ही रोता रहेगा और इसी प्रकार यदि दर्शक अभिनेता को राम मान ले तो वह उसके सुख-दु:ख में सक्रिय रूप से सम्मिलित हो जायगा।

इसके अनन्तर सुश्री रंजू महता ने कहा कि अध्यास में रज्जु और सर्प का द्वैत नहीं होता, केवल सर्प ही प्रस्तुत रहता है, इसलिए दया जी का यह कहना कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अध्यास के लिए रज्जु और सर्प दोनों की प्रस्तुति चाहिए, ठीक नहीं है। इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए डॉ. सरला कल्ला और डॉ. योगेश गुप्ता ने भी प्रश्न किये।

इसके अनन्तर मैंने कहा कि वास्तव में अध्यास के लिए रज्जु-सर्प का उदाहरण उपमा के रूप में भी सही नहीं है, क्योंकि रज्जु और सर्प जबकि एक ही कोटि के हैं जगत् और ब्रह्म एक कोटि के नहीं हैं। ध्यातव्य है कि जगत्, भी वैसी कोई वस्तु नहीं है जैसी घट-पट आदि है। जगत् या तो अस्तित्व मात्र को अवयव करता हुआ अवयवी है, या विषय मात्र का धर्म : धारक आधार : है, या चेतना का जगद् भाव, जैसे भी हम उसे देखें। किन्तु ब्रह्म पर अध्यास होने के लिए इसे भाव ही होना होगा। किन्तु तब यह एक वस्तु-वाचक पद नहीं रहता, मूल्य-वाचक पद हो जाता है। इसका अर्थ हो जाता है कि राग के विषयों से आत्म-तादात्म्य भ्रान्ति है, यह आत्मा पर अनात्म का अध्यास है।

विचार-विमर्श को समाप्त करते हुए दया जी ने कहा कि हमारी दार्शनिक परम्परा बहुत कुछ अवरुद्ध पड़ी है। हम अपने प्राचीन ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन भी नहीं करते और न नये प्रश्न ही उठाते हैं। परम्परा में भी हमें बहुत बार कुछ प्रश्नों की उपेक्षा की प्रवृत्ति मिलती है। जैसे काश्मीर शैव दार्शनिकों के मत की कोई आलोचना हमें वेदान्तियों में नहीं मिलती। केवल इधर 1948 के आस-पास—शंकर चैतन्य भारती ने **दर्शन-सर्वस्व** नामक ग्रन्थ में इस मत पर स्वातंत्र्यवाद नाम से विचार किया है। इसी प्रकार उद्योतकर ने अपने **न्यायवार्तिक** ग्रन्थ में सब विद्याओं के अपने पृथक् निःश्रेयस् कहे हैं, उनके अनुसार मोक्ष केवल आत्मविद्या का निःश्रेयस् है। यह दूसरों से अत्यन्त भिन्न प्रकार की बात है किन्तु इस पर किसी ने कोई ध्यान ही नहीं दिया।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीक्षा-लेख

सौंदर्य और धर्म के विषय में आचार्य गोविन्दचंद्र पांडे की दृष्टि*

सौन्दर्यदर्शनविमर्शः प्रोफेसर गोविन्दचंद्र पांडे के द्वारा संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में दिये गये तीन व्याख्यानों का संग्रह है। व्याख्यानों को पांडे जी ने संस्कृत की शास्त्रपरंपरा के अनुरूप कारिका और भाष्य की शैली में लिपिबद्ध किया है। सौंदर्यशास्त्र पर स्वतंत्र रूप से इस प्रकार का ग्रंथ हमारी शास्त्रपरंपरा में नहीं मिलता, न सौंदर्यशास्त्र एक अलग शास्त्र के रूप में यहाँ स्वीकारा गया है। पांडे जी ने इस ग्रंथ में निम्नलिखित प्रश्नों पर प्रमुख रूप से विचार किया है—(१) सौंदर्य रूप का धर्म है या अरूप का?, (२) काव्य आदि का आस्वाद लोकसाधारण है या असाधारण? तथा (३) सौंदर्य क्या स्वतंत्र पुरुषार्थ है? इन पर विचार 'सौन्दर्यशास्त्रस्वरूपालोचनम्', 'रूपतत्त्वविमर्शः' तथा 'रसतत्त्वविमर्शः' शीर्षक अध्यायों में किया गया है।

पांडे जी सौंदर्य को वस्तुगत नहीं मानते हैं। साहित्य और कला में तो रचनाकार उन विषयों में भी सौंदर्य का प्रत्यय दे देता है जिनमें सामान्यतया बहुसंख्य लोग असौंदर्य देखते हैं। इस दृष्टि से शल्यजी से अपने वैमत्य का उल्लेख इस प्रसंग में पांडे जी ने किया है। (पृ. ७) पांडेजी अभिनवगुप्त के आभासवाद को स्वीकार करते हैं, साथ ही विद्यारण्य के द्वारा अनुभूति विषयक विवेचन को भी वे स्वीकृतिपूर्वक उद्धृत करते हैं। तदनुसार आत्माध्यास के कारण विषयों में प्रियत्व आदि की प्रतीति होती है। परिमित प्रमाता स्वसंबंध से या वासनामूलक मनोमय बिंबों से वस्तु के आकार को आच्छादित कर देता है (पृ. १२)। समग्र संस्कृति आत्मबोध का ही विस्तार है और सौंदर्यबोध संस्कृति का अंग है (पृ. १८)। विषयों में आत्मस्वरूप प्रतिबिंबित होने लगता है, उसी के कारण इष्टत्व और उपादेयत्व की प्रतीति होती है। यह प्रतीति पुरुषार्थप्रतीति से जुड़ जाती है। शिष्टपरंपरा से यह पुरुषार्थप्रतीति

---

* सौन्दर्यदर्शन विमर्श : १९९५, पृ. सं. ११०, मूल्य ९०/- तथा एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, १९९७, पृ. सं. ८७, मूल्य ८०/- लेखक—गोविन्दचन्द्र पांडे, प्रकाशक-संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संस्कृति और मूल्यव्यवस्थाओं की जनक बनती है। फिर इन मूल्यात्मक विषयों का निरूपण काव्य और कलाएं करती हैं (पृ. १२-१३)। यहाँ यह प्रश्न आता है कि फिर तो जिस प्रकार सांस्कृतिक व्यवस्थाएं परिवर्तित होती हैं उसी प्रकार कालांतर में सौंदर्यमीमांसा भी अनियमित होने के कारण अप्रमाण हो जायेगी? इसके उत्तर में पांडे जी कहते हैं कि सौंदर्यमीमांसा इतिहासगम्य सापेक्षता से नियमित होती है (पृ. १६-१७)।

सौंदर्यशास्त्र को वे कलाओं का अन्वीक्षाशास्त्र मानते हैं (पृ. ८)। कलानुभव के निरूपण में ज्ञान की तीन भूमियों का उन्होंने निरूपण किया है—प्रथम प्रत्यक्षगोचर आभासभूमि है, द्वितीय अनुमानगोचर स्वभावभूमि है, तीसरी साक्षात्परामर्शगोचर आत्मभूमि है। प्रथम भूमि कल्पना के आरंभ की भूमि है, द्वितीय विज्ञान और व्यवहार की, तथा तृतीय भूमि पुरुषार्थ की भूमि है (पृ. ९)। ज्ञानमात्र के द्वारा आस्वाद्य तथा स्वरूप के द्वारा विमृश्य आकारगत उत्कर्ष सौंदर्य है। (प्रथम व्याख्यान, कारिका-८७)। आत्मभाव या आत्मबोध के अनुरूप वस्तु के आकारों की प्रतीति हमें संसार में होती है और इन आकारों में सौंदर्यबुद्धि होती है।

सारी संस्कृति ही आत्मचैतन्य की सृष्टि है तो कलाएं भी उसीसे प्रादुर्भूत होती हैं। चैतन्य की ज्ञान, कर्म और भाव से संबद्ध तीन वृत्तियाँ हैं। इनमें से भावसंबद्ध कल्पना माया के समान विषय को चामत्कारिक ढंग से रूपान्तरित कर देती है। सौन्दर्यबोध की दृष्टि से जैनों के अनेकांतवाद, बौद्धों के विज्ञानवाद और प्लेटो, हेगेल तथा मार्क्स के मतों का विचार कर के पांडे जी ने अद्वैत तत्त्व की स्थापना की है। यदि सौंदर्यप्रतीति आत्मबोधजन्य है तो आत्मबोध को लेकर तीन दृष्टियाँ मिलती हैं—प्रत्यक्षवाद, विज्ञानवाद तथा अध्यात्मवाद। कला-चिंतन में भी इन तीनों दृष्टियों के अनुसार विविध विचार उपस्थापित किये जाते रहे हैं। विश्व संस्कृति में पांडे जी इन तीनों दृष्टियों का ऐतिहासिक क्रम व्युत्क्रम में प्रतिफलित पाते हैं। अतीत की संस्कृतियाँ अध्यात्म-प्रधान रही हैं। उन्होंने इस मत का खंडन किया है कि वैदिक दृष्टि मूलतः अधिदैविक दृष्टि है। वैदिक विश्वबोध की औपनिषद दृष्टि तथा अद्वैत वेदांत के द्वारा व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि विक्षेपात्मक और आवरणात्मक शक्तियों की निवृत्ति से जो अव्यक्त व्यंजित होता है वह देवशक्तिसंवलित है, उसी को वेद में रूप कहा गया है। शल्य जी वैदिक संस्कृति को मूलतः अधिदैविक मानते हैं। पांडेजी का मत परंपरा के अधिक निकट है, क्योंकि हमारे यहाँ वेद का ही अंग वेदान्त या उपनिषद् कहे गये हैं। यहाँ वैदिक सौंदर्यशास्त्र का जो विचार किया गया है वह सौंदर्यशास्त्र के अनुशीलन की नयी दिशा खोलता है, क्योंकि वैदिक परंपरागत सौंदर्यतत्त्व की अवधारणा का इस प्रकार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संदर्भपुरस्सर विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मणों के शिल्पविषयक विवेचन का तो उल्लेख अन्य विद्वानों के द्वारा किया जाता रहा है पर ऋग्वेदादि में सौंदर्य के पर्यायों तथा उनका कलाचिंतन की परंपरा से अंतःसंबंध पांडे जी ने सुविचारित रूप में यहाँ उद्घाटित किया है। दिव्य चेतना विश्व में अनुप्रविष्ट है। विश्व में व्याप्त सौंदर्य इससे अभिन्न है। इसकी प्रतीति ही सौंदर्य की प्रतीति है (पृ. ४४)।

भारतीय इतिहास को पांडे जी ने चार युगों में विभाजित किया है—वैदिक, जानपद, साम्राज्य तथा सामन्तीय। इनमें रूपतत्त्व की अवधारणा को वे क्रमशः संकेत, लक्षण, प्रतिमा तथा अलंकार के रूप में प्रतिफलित मानते हैं (पृ. ५६)। पहली अवस्था में तत्त्वविद्या या आइडियॉलॉजी ही कला का मूलाधार बनती है। जानपद युग में रूप के स्थूल स्तर पर प्रकटीकरण की प्रवृत्ति उभरती है, सौंदर्यबोध और सौन्दर्यसृष्टि का बहुविध विकास होने लगता है। प्रथम अवस्था में सामान्यतया प्रत्यक्षीकृत विषय में अस्फुट भावाभिव्यंजन से ही रमणीयता निष्पन्न हो जाती है। फिर आकारविशेष के रूप में विषय का प्रत्यक्ष होने पर चित्रोपम रमणीयता का प्रतिमान होता है। आकारविशेष के भावित होने पर स्फुट व्यंजना के रूप में रमणीयता का प्रतिभान होता है। आकारविशेष के भावित होने पर स्फुट व्यंजना के रूप में रमणीयता की प्रतीति होती है। पर यह बहुविध रूप अंततः आत्मनिर्भास ही है (पृ. ६२)। संकेत या प्रतीक, लक्षण, प्रतिमा तथा अलंकार—इन चारों ही रूप-प्रकारों में आभास तथा संकेत ये दो पक्ष बनते हैं। चित्त ही संकेतों की प्रसवभूमि है (पृ. ७०)। संकेत कल्पनामूलक होता है और कल्पना आत्मा की शक्ति है। यह परामर्शात्मक चित् स्वयं को स्वयं से रचता है। यह सब विवेचन अभिनवगुप्त के कलातत्त्वविमर्श के आलोक में पांडे जी ने यहाँ किया है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में नृत्त, चित्र, गीत आदि कलाओं के परस्पर अंतरवलंबन का निरूपण किया गया है। पांडे जी ने इन विविध कलाओं में पारस्परिकता का उद्घाटन उनकी मौलिक एकता की दृष्टि से किया है। इनमें अंतःसम्बन्ध रचनाप्रवृत्ति की दृष्टि से तथा रचयिता के संबंध की दृष्टि से संभव है। कला, मात्रा आदि की काल-मान-योजना में जब ताल, लय और छंद प्रतिष्ठित होते हैं तो उनसे गत्यात्मक नृत्त परिचालित होता है, इसी में अभिनय का संयोग हो जाने पर वह नृत्य बन जाता है। नृत्य की ही भंगिमाएं प्रतिमा आदि के निर्माण के लिए शिल्पियों के लिए प्रतिमान बनती हैं। नृत्य ही स्थिर मूर्तिवत् होकर शिल्प बनता है, शिल्प ही गतिमय हो कर नृत्य बन जाता है। नृत्त और नृत्य में विनियुक्त ताल और स्वर से संगीत रचा जाता है। इसी में पदों का विन्यास भी हो जाने पर वह काव्य हो जाता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। काव्य ही अपने में नाट्य को गर्भित किये रहता है और नाट्य प्रबंधायमान काव्य भी होता है। इन सबकी रूप-सृष्टि में संविदुल्लासमय आत्मपरामर्शरूप रचना प्राणच्छंद की भाँति व्याप्त रहती है (पृ. ६२)। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** ने इन सभी कलाओं में मूलभूत समानता अनुकृति की मानी है। अनुकृति का सिद्धान्त **ऐतरेय ब्राह्मण** के देवशिल्प और मानुषशिल्प के विवेचन की परंपरा में सर्वप्रथम विचारित हुआ है। पांडे जी ने ऐतरेय का उल्लेख किया है और **विष्णुधर्मोत्तर** का भी वे स्मरण करते. हैं। पर अनुकृति-सिद्धान्त की इनकी परंपरा पर उन्होंने विचार नहीं किया। संगीत में विभावादि सामग्री के तथा शब्दव्यवहार के भी अभाव में रसास्वाद किस प्रकार होता है—इस प्रश्न पर उनका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। संगीत में स्वर और ताल आदि अनादि वासना के द्वारा ही संवित्स्पंदन के आलंबन से अव्यक्त भावों को प्रकाशित कर देते हैं। स्वर, ताल और लय यहाँ उद्दीपन बनते हैं, आत्मचैतन्य ही आलंबन होता है तथा चित्तवृत्ति ही भाव बन जाती है (पृ. ६३)। इस प्रक्रिया में संगीत में तीन पक्ष बनते हैं—प्रथम अविकल्पित-अविचारित रंजक विषय श्रुतिसंवेद्य मात्र होता है, जिसका आनंद सामान्य जन भी ले सकते हैं। द्वितीय पक्ष स्वरादिरचनाविशेष है, जिसमें गणित का तत्त्व भी समाहित है। यह बुद्धिगम्य है। तृतीय पक्ष अव्यक्त भावव्यंजकता है (पृ. ६४)।

रसतत्त्वविमर्शः शीर्षक तृतीय व्याख्यान में पांडे जी ने रस तत्त्व का मूल वैदिक संहिताओं में गवेषित करते हुए यजमान के आत्मनिवेदनात्मक भाव को ही सोम का मुख्यार्थ माना है, और इस प्रकार सोमरस का तात्पर्य उनके अनुसार भक्तिरस हो जाता है, क्योंकि भावनात्मक अंतर्याग में तो स्थूल या बाहरी द्रव्य विनियुक्त होता नहीं है। इस प्रकार सोमोपासना साक्षिचैतन्यात्मक देव की उपासना ही है। रस परम तत्त्व है। विषयों में प्रीति इसका मलिन प्रतिबिंब है। सत्त्व की शुद्धि से यह प्रतिबिंब विमल होता जाता है। यद्यपि पांडेजी का रसस्वरूपविमर्श पूर्णतः भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों पर आधृत है पर इसमें व्याख्या की किंचित् नवीनता भी है। भरतमुनि के नानाव्यंजनौषधियों के संयोग से षाडवादि रसों की निष्पत्ति के दृष्टान्त को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि चित्त इस निष्पत्ति में मूल द्रव्य है, भाव संस्कृति हैं तथा लोक के संकोच का उपाय करने हेतु चैतन्य में रसोदय होता है (व्याख्यान-३, कारिका ८)। नाट्यप्रयोग के प्रसंग में पांडेजी अभिनय को संस्कारक मानते हैं। यहाँ भाव को संस्कृति कहने का आशय अस्फुट रह गया है। भरतमुनि ने व्यंजनौषधिदृष्टान्त में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग बघार लगा कर सुस्वादु बनाने के अर्थ में किया है। पांडे जी ने नाट्य के प्रसंग में इस चित्त के संस्कार को संस्कृति से जोड़ा है। पांडे जी के रसविमर्श की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लोल्लट, भट्ट शंकुक तथा भट्ट नायक के प्रस्थान से भी रस की समग्र व्याख्या की सरणि प्रदर्शित की है। लोल्लट के मत की व्याख्या में उन्होंने स्थायी भावों की संस्काररूप से चित्त में विद्यमानता स्वीकार की है। अभिनव, मम्मट तथा हेमचंद्राचार्य द्वारा लोल्लटपक्ष की प्रस्तुति में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यदि स्थायीभाव संस्कारदशा में चित्त में विद्यमान हैं तो लोल्लट का उत्पत्तिवाद कैसे बनेगा? लोल्लट के मत में नाट्य लोकसादृश्यरूप है और अलौकिकता का आग्रह वहाँ नहीं है, शंकुक की दृष्टि भी मूलतः नाट्य में लौकिकभावपरकता को ही लेकर चलती है, साथ ही चित्रतुरगन्याय को लेकर वहाँ परिणति में नाट्यानुभूति की विशिष्टता या अलौकिकता का निरूपण किया गया है। प्रतीतिवाद से उपक्रांत हो कर शंकुक का मत आभासवाद में ही विश्रांत होता है---अपनी इस व्याख्या के द्वारा पांडे जी ने लोल्लट तथा शंकुक के मतों की ताज़ी व्याख्या की है। शंकुक की पांडेजी की विवृति अवश्य ही अत्यन्त विचारणीय है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

यह पुस्तक प्रो. गोविन्दचंद्र पांडे द्वारा संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में दिये गये दो भाषणों का संग्रह है। ये भाषण पांडे जी ने संस्कृत में दिये गये **सौन्दर्यदर्शनविमर्शः** भाषणों की ही भांति कारिका और भाष्य की परिष्कृत शास्त्रीय शैली में लिखे हैं। भाषणों का विषय तुलनात्मक धर्मदर्शन है। पांडेजी ने यहां चिरंतन धर्मतत्त्व पर युगांतरोचित पुनर्विचार किया है। पहले व्याख्यान में तुलनात्मक धर्मदर्शन के अध्ययन की पद्धति का विमर्श प्रमुखता से हुआ है। संस्कृत की शास्त्रपरंपरा में यह विषय नवीन है, क्योंकि परंपरागत धर्मानुशीलन में किसी एक परंपरा से प्राप्त धर्मतत्त्व का ही विमर्श किया जाता है। विश्व में संपर्क की वृद्धि के कारण विभिन्न विचारधाराएं एक-दूसरे के निकट आती लग रही हैं और तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक मिथकशास्त्र, तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र जैसे नूतन विषयों का आविर्भाव अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के उपनिवेशवादी दौर में हुआ है। डॉ. पांडे ने स्वयं इस नयी प्रवृत्ति की समाशंसा करते हुए 'व्याख्यानविषयप्रयोजननिर्देशः' शीर्षक प्रकरण में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' यह आप्त वाक्य उद्धृत किया है। पर आधुनिक ज्ञानविज्ञान में पनप रही तुलनात्मक अध्ययन की दिशा से उनकी दिशा किंचित् भिन्न है। आधुनिक अध्ययनों में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के परस्पर भेद और विरोध पर बल दिया जाता है, इन व्याख्यानों में उनका पारमार्थिक ऐक्य गवेषणा का विषय है (पृ. ४)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक का शीर्षक ऋग्वेद में ऋषि दीर्घतमस् के द्वारा देखे गये प्रख्यात **अयवामीय सूक्त** (ऋ. १०.१६४) के एक मंत्र में आये पदों से बनाया गया है। इस मंत्र में दीर्घतमस् कहते हैं कि इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि एक ही सत् के बहुविध रूप हैं। एक सत् के बहुविध व्याख्यान के इस दर्शन की विवृति पांडे जी ने प्रस्तुत ग्रंथ में आचार्य अभिनवगुप्त के प्रतिबिंबवाद को आधार बनाकर की है। बहुविधता में एकान्विति की स्थापना पहले व्याख्यान का प्रयोजन है।

'धर्म' शब्द का निर्वचन और उसकी व्याख्या उचित ही प्रो. पांडे ने यहां सर्वप्रथम की है। धारक तत्त्व धर्म है। वह प्रजा या समाज को धारण करने वाला तत्त्व है—यह पारंपरिक लक्षण स्वीकार करते हुए पांडेजी ने इसका परिष्कार इस प्रकार किया है-

विधानं साधनं चैव लोकस्थितिमथापि च।
वस्तुस्वभावविज्ञानं ब्रूते धर्मो विधारणात्।।१।। पृ. ४

धर्म विधारण या विशेष रूप से धारण करने के कारण विधान, साधन, लोकस्थिति तथा वस्तुस्वभावविज्ञान का प्रतिपादन करता है। क्या अन्य जातियों व भाषाओं में प्रचलित 'रिलिजन', 'मज़हब' आदि शब्द इसके पर्याय हैं या समानार्थी हैं—इस पर यहाँ विचार हो सकता था, पर इसका किंचित् संकेत मात्र पांडे जी ने यहां किया है, वह भी इतना ही कह कर कि "रिलिजन शब्द से भी बंध या संबंध सूचित होता है" (पृ. ४)। वस्तुतः विभिन्न धार्मिक प्रस्थानों में आपाततः प्रतीत होने वाला पारस्परिक वैमत्य इस ग्रंथ में पूर्वपक्ष के रूप में ही गृहीत है, उनमें अन्वित एकसूत्रता की स्थापना उत्तरपक्ष है। यह वैमत्य धर्मविशेष को कर्मकांडविशेष या अनुष्ठानविशेष तक ही सीमित समझने के कारण प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म को अलबेरूनी, अबुलफ़ज़ल और दविस्तानेमज़ाहिद तथा आबे दूब्या जिस तरह प्रस्तुत करते हैं उसमें आपाततः प्रतीत होने वाला यह वैमत्य ही अधिक उभरता है। अशोक ने सारे धर्मों का सार संयम और भावशुद्धि को माना था (पृ. ४०)। मानव का धर्म वस्तुतः विवेकात्मता हैं (पृ. ४९)। इन उपपत्तियों से विभिन्न धर्मों में एकान्विति देखी जानी चाहिये।

संयोगवश इस पूरी पुस्तक में दाराशिकोह का कहीं ज़िक्र नहीं हुआ। दाराशिकोह की दृष्टि अलबेरूनी, अबुलफ़ज़ल आदि से बहुत भिन्न है और वे भी पांडे जी की भांति ही विभिन्न धर्मों की एकान्विति की ही खोज करते हैं। ऐसा नहीं है कि दाराशिकोह के अनुल्लेख या नोटिस न लिये जाने से पुस्तक में कोई कमी रह गयी है, पर दारा ने अपने **समुद्रसंगम** नामक संस्कृत में लिखे और **मज्म-उल-बहरैन** नामक फारसी में रचे ग्रंथ में मुक्ति और परम तत्त्व की अवधारणा को ले

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर दो परस्पर विरुद्ध सी भासने वाली धर्म-परंपराओं में मूलतः साम्य जिस अभिनिवेश और संरंभ के साथ सतर्क, सप्रमाण गवेषित और प्रतिपादित किया है उस पर पांडे जी जैसे अंतर्दृष्टिप्रवण विचारक के दृष्टिपात के द्वारा उठायी गयी चर्चा कदाचित् और भी सार्थक रूप में आगे जा सकती थी। दाराशिकोह और पांडे जी दोनों ही शास्त्रीय शैली में संस्कृत के माध्यम से ग्रंथ रचना करते हैं—यह बात अपने आप में कोई अभिप्राय नहीं रखती, पर दोनों मूल तत्त्वों की छानबीन के लिए परंपराओं में पैठने के लिए ऐसा करना अपेक्षित समझते हैं—यह बात दोनों को जोड़ती है। दारा भी धर्म के उस रूप पर दृष्टि केन्द्रित करते हैं जिसे पांडेजी ने धर्म का तर्कातीत अद्वैत रूप कहा है। अस्तु, पांडे जी ने विभिन्न मज़हबों या रिलिजनों के विवेचन के स्थान पर धर्म की भारतीय अवधारणा के विवेचन पर ही दृष्टि अधिक केन्द्रित रखी है। इस विवेचन में भी वे पूर्वपक्ष के रूप में दो मान्यताएं उठाते हैं—एक तो कुछ पाश्चात्यों की ऐसी मान्यता बन गयी है कि हिंदू धर्म विभिन्न समुदाचारों, रूढ़ियों, अनुष्ठानों आदि का घालमेल मात्र है, इनमें अनुस्यूत कोई मूल तत्त्व नहीं दिखाई देता, केवल सजातीय भेदों से तत्त्व की भ्रांति होती है। दूसरे, हिन्दू धर्म की पहचान केवल जातिभेद या वर्णव्यवस्थाभेद मात्र से होती है, शास्त्रों में जो विवेचन किया गया है वह तो विद्वानों का वाग्विलासमात्र है।

इस पूर्वपक्ष के बरक्स पांडेजी ने अपना जो पक्ष रखा है वह शास्त्रसम्मत ही है। वह 'धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः' तथा 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' इन शास्त्रोक्त लक्षणों से प्रेरित है। पर उन्होंने अभ्युदयकारक तथा निःश्रेयससिद्धिकारक—इन द्विविध धर्मरूपों की भी व्याख्या नये ढंग से अधिक तर्कसम्मत रूप में की है। इन्हें उन्होंने प्रवृत्ति धर्म और निवृत्ति धर्म भी कहा है (पृ. ६६, ७०)। दोनों ही प्रकार के धर्मों की दृष्टि से श्रेयःप्राप्ति की निमित्तभूत अनुष्ठेयविधिसंहिता को धर्म का सामान्य लक्षण कहा जा सकता है (पृ. ६३)। अभ्युदयकारक धर्म के दो रूप हैं—लौकिक और पारलौकिक। पहला आचार-व्यवहारादि का नियामक लौकिक अभ्युदयसिद्धिकारक है, दूसरा सांस्कारिक व आनुष्ठानिक रूप पारलौकिक है। निःश्रेयस की सिद्धि कराने वाला धर्म लोकोत्तर धर्म है। इस प्रकार धर्म के तीन प्रकार हो जाते हैं—लौकिक, पारलौकिक तथा लोकोत्तर। इन नाना धर्मरूपों के पारस्परिक संबंध की भी बड़ी सटीक व्याख्या पांडेजी ने की है—'पूर्वपूर्वपुरस्सरश्च उत्तरोत्तरो भेदः' (पृ. ६) अर्थात् इनमें बाद वाला प्रत्येक भेद अपने से पहले के भेद के आधार पर आता है। इस तरह धर्म के इस विशाल वृत्त में लोक, समाज या जाति से जुड़े हुए वे सभी विषय आ जाते हैं जिनसे समाज में आचार, व्यवहार आदि व्यवस्थापित होते हैं। इस दृष्टि से धर्म का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ग्रंथकार ने चार प्रकार से विभाजन किया है—(१) जातीय संस्कृति से परिवेष्टित लोकैषणाप्रधान तथा देवोपासनादि से अदृष्ट की सिद्धि कराने वाले जातीय धर्म, (२) महापुरुषों के द्वारा प्रवर्तित शास्त्रों का अनुसरण करके विविध संघों के रूप में विकसित होने वाले धर्म, (३) चिरंतनशास्त्रसंप्रदाय से प्रवृत्त होने वाले देशविशेष के धर्म, तथा (४) निःस्वार्थ करुणा वाले जितेन्द्रिय योगियों का धर्म। पर इन चारों रूपों को भी सर्वथा परस्पर भिन्न चार अलग अलग वर्ग मानना पांडे जी उचित नहीं समझते। इनमें न्यूनाधिक मात्रा में एक दूसरे से अनुप्रविष्ट है। प्रधानता के आधार पर ही जातीय संस्कृति, चिरंतन संप्रदाय, प्रवर्तकशासन तथा सनातन योग—इन चार प्रकारों से इन्हें व्यवस्थापित किया गया है (पृ. ६)। इनमें से जातीय संस्कृति से संबद्ध पहले प्रकार का पर्यालोचन तुलनात्मक धर्मविज्ञान के अन्तर्गत दो आधारों पर होता है—भाषाशास्त्रीय आधार पर तथा प्रत्यक्ष पर्यवेक्षणात्मक आधार पर।

धर्म के इन सारे रूपों को आंतरिक और बाह्य इन दो कोटियों में पुनर्व्यवस्थापित किया जा सकता है। आंतरिक रूप में धर्म तर्कातीत और अद्वैत है। गुह्य और सनातन धर्म से सम्प्रदायात्मक नाना धर्म विकसित होते हैं (व्याख्यान-१, कारिका २-४)। असमग्र दृष्टि के कारण इनमें परस्पर कटुता आती है। जिस समग्र के ये अंग हैं उसका विचार करके इनमें पारस्परिक संवाद को देखकर विश्वधर्मैकनीड़ता की सिद्धि की जानी चाहिये (वही, ६-८)। वस्तुतः हमारे यहाँ विभिन्न शास्त्रपरंपराओं में विवाद परमतव्युदासपूर्वक स्वपक्ष स्थापना के लिए हुआ है, विद्वेषबुद्धि से नहीं। संप्रदायों की रचना की तीन भूमिकाएं हैं। पहली भूमिका आगम है। यह मूलाधार है। इसमें संस्कृति का उन्मीलन होता है। आगम के आशय को लक्षणों से स्फुट करने के लिए शास्त्रों की रचना होती है और उनके अनुषंग के रूप में विभिन्न दर्शन विकसित होते हैं। इस प्रकार संस्कृति, आगम तथा दर्शन-प्रस्थान संवलित शास्त्रपरंपराएं—ये तीनों मिलकर धर्म-सम्प्रदायों का कोश रचते हैं।

परमार्थ पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए आचार्य पांडे ने यहाँ आत्मवादी तथा नैरात्म्यवादी दर्शनों के कथित विरोध को भी निरस्त ही कर दिया है। आत्मकामता का अर्थ अविद्यात्मकामता नहीं है, परात्मकामता है। अनात्मवादी भी अनात्मनिषेध के द्वारा तथा अनिर्वाच्य परमार्थ के स्वीकार के द्वारा प्रकारांतर से आत्मवादियों से अलग नहीं हैं। निरपेक्षतया तो आत्माभाव वे भी नहीं मानते (पृ. ५०)।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य, जिसकी ओर पांडेजी ने यहां इंगित किया है, ध्यातव्य है। तुलनात्मक धर्मविज्ञान में पाश्चात्य विद्वानों के मतों को बहुधा प्रमाण के रूप में उपन्यस्त किया जाता है। पर पाश्चात्य विद्वानों के विवेचन में पूर्वाग्रह और प्रच्छन्न राग-द्वेष भी कहीं कहीं दिखायी पड़ता है। मैक्समूलर जैसा मनीषी पंडित भी इनसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मुक्त नहीं था (पृ. २०)। हेगल जैसे महान् दार्शनिक के मन में ईसाई धर्म के लिए पक्षपात का भाव था ही। इसलिये उसकी इतिहासदृष्टि पहले के धर्मों से बाद के धर्मों को श्रेष्ठतर मानती है। पाश्चात्यों के विवेचन के इस नीरक्षीरविवेक के साथ यहाँ पांडेजी ने पश्चिम के अनेक धर्मविदों के मतमतान्तरों का परामर्श किया है।

द्वितीय व्याख्यान का शीर्षक 'यत् सानोः सानुमारुहत्' अथवा 'आध्यात्मिकानुभूतिसोपानपंक्तिः' है। अलग अलग संप्रदायों में साधना की पद्धतियां अलग-अलग हैं। पर इनके भीतर अंतःसलिला की भांति विश्वजनीन अध्यात्म संस्कृति तरंगित है। इस धारणा के साथ पांडेजी ने द्वितीय व्याख्यान में आध्यात्मिक अनुभूति का विवेचन करते हुए मृत्युबोध में परमार्थ की पर्येषणा का आरंभ माना है। मृत्यु के साक्षात्कार के काल में मनुष्य छायाभास की तरह अपने-आपको देखता है। यह सूक्ष्म देह का आभास है। इसके द्वारा मनुष्य परलोकधर्म की ओर अभिमुख हो जाता है। साहित्य में भी इस आभास या बोध से वैशिष्ट्य आता है। यहाँ पांडेजी ने श्री अरविंद को उद्धृत किया है, जो होमर के इलियड को सूक्ष्मदेह के बोध में प्रतिष्ठित महाकाव्य कहते हैं (पृ. ५६)। पर मृत्यु के बोध की परिणति सब साहित्यकारों में आत्मबोध में नहीं होती। अतएव पांडेजी उचित ही मृत्युबोध को भी बहुविध मानते हैं। शूरवीरों के अनुभव में मृत्यु का बोध क्षुद्र हृदय का दौर्बल्य मात्र हो सकता है। संसारासक्त प्राणी मृत्यु को सामने मंडराती देख कर भी विद्या (यह शब्द यहाँ ईशोपनिषत् की अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त है) या अर्थ की साधना में जुटे रहते हैं। नचिकेता या रमण महर्षि जैसे महात्माओं का मृत्युबोध यथावद्धर्मसंवेगजनक होता है (पृ. ५७)। यह पूरा विवेचन तर्क के स्थान पर अनुभूति और श्रद्धा को अधिक वरेण्य मान कर किया गया है। आत्मा के अस्तित्व के लिए भी रमण महर्षि जैसे संतों की अनुभूति ही प्रमाण मानी जानी चाहिये। तर्क का उपयोग श्रद्धापथ के कंटकशोधन के लिए ही होना चाहिये (पृ. ५९-६०)। इस पूरे विवेचन में पांडेजी ने धर्म का जो स्वरूप निरूपित किया है वह मनुष्य को श्रेयस् की प्राप्ति कराने वाले तत्त्व के रूप में ही। मूलतः पांडेजी की दृष्टि यह प्रतीत होती है कि अभ्युदय-प्राप्तिकारक आचार-संहिता भी अंततः श्रेयस् की प्राप्ति के प्रयोजन से जुड़ी होनी चाहिये। इसीलिये उनके अनुसार यज्ञयागादि में पशुबलि का विरोध करने की परंपरा रही है। शतपथ ब्राह्मण का यह वचन उन्होंने यहां उद्धृत किया है—'क्रूरा वा एतत् कुर्वन्ति यत् पशुं संज्ञपयन्ति।' इस दृष्टि से वे यह मानते हैं कि श्रौतानुष्ठानलक्षण पुरातन प्रवृत्ति-धर्म की परिणति ईशभक्ति से प्रयुक्त लोकानुकंपामूलक मर्यादारूप धर्म में उचित ही हुई है। क्या आधुनिक प्रजातांत्रिक व्यवस्था, देश में लागू किये गये संविधान और विश्व में हो रहे नये परिवर्तनों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कारण इस प्रवृत्तिमूलक धर्म में फिर कोई नयी व्यवस्थाएं मान्य होनी चाहियें---यह प्रश्न भी यहां उठता है। पांडेजी तो प्रवृत्तिलक्षण धर्म को यज्ञयागादि से हट कर आज के युग में निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग में पर्यवसित मानते प्रतीत होते हैं। क्या आज के युग में और भी कोई प्रकार प्रवृत्तिलक्षण धर्म का संभाव्य है? पांडेजी के पक्ष से इस का उत्तर इस सिद्धान्त के आलोक में देना होगा कि प्रवृत्तिलक्षण धर्म परंपरया निवृत्तिलक्षण ज्ञान और मोक्ष का उपकारक होता है। पर आज के कई विचारक निवृत्ति या मोक्ष का इनके पारम्परिक अर्थ में निषेध करते हैं। रवीन्द्रनाथ अपनी एक कविता में कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयों से उपराम होने से मिलने वाली मुक्ति मुझे नहीं चाहिये। पांडेजी भी यह मानते हैं कि वैराग्य-बुद्धि का स्फुट प्रकाश भारतीय परंपरा में भी श्रमण धर्मों के उदय के साथ ही हुआ (पृ. ७४), अर्थात् वैदिक परंपरा में मूलतः वैराग्य का उदग्र बोध नहीं था। वैराग्यपरक काव्य भी बौद्ध और जैन आगमों तथा **महाभारत** से ही मिलने लगता है (पृ. ७४)। यदि वेद वैराग्य का सुस्पष्ट प्रतिपादन नहीं करते हैं तो क्या उनमें प्रोक्त धर्म अपूर्ण है? अपने सौन्दर्यविषयक परामर्श में पांडेजी ने वैदिक संस्कृति को मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति माना है। पर यह संस्कृति यदि मूलतः वैराग्यपरक नहीं है तो यह स्वीकार करना होगा कि आध्यात्मिक होने के लिए वैराग्यभाव ऐकांतिकतया अपेक्षित नहीं है।

व्याख्यान के अंत में पांडेजी ने धर्म के द्विविध रूप के स्थान पर त्रिविध रूप मान लिये हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो रूपों के अतिरिक्त तीसरा रूप इनमें उन्होंने जोड़ा है—परावृत्ति (व्याख्यान-२, कारिका-२९)। पर इस तृतीय रूप का लक्षण-निर्वचन और स्वरूप-विवेचन उन्होंने नहीं किया है, जबकि परंपरा में स्वीकृत द्विविध धर्मभेद के बाद यह तृतीय प्रकार यदि नया जोड़ा गया, तो इसकी विशद व्याख्या यहाँ की जानी चाहिये थी।

राधावल्लभ त्रिपाठी

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

डॉ. हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर-४७०००३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीक्षा-लेख

साहित्य और संस्कृति के विषय में शल्य जी की दृष्टि*

'साहित्यचिंतन और युग चिंतन' शल्य जी के साहित्य, संस्कृति, दर्शन और राजनीति से संबंद्ध २९ निबंधों का संग्रह है। यह पुस्तक साहित्य के पाठकों के लिए विशेष रूप से पठनीय है। एक तो इससे यह पता चलता है कि दर्शन का अध्येता और विचारक साहित्य का अध्ययन और उसकी मीमांसा किस तरह करता है; दूसरे, इस प्रकार का अध्ययन और मीमांसा प्रचलित ढर्रे से हट कर होने और उसके पीछे मनन की संपदा होने से वह जिज्ञासु पाठक के लिए मूल्यवान् भी है।

यह पुस्तक निश्चय ही हिंदी साहित्य की समीक्षा में व्याप्त गत्यवरोध को तोड़ने में सहायक हो सकती है। इस पुस्तक को पढ़ कर यह भी लगता है कि शल्य जी को साहित्य और उससे जुड़ी समस्याओं पर और भी लिखना चाहिये था। इस पुस्तक में भी करीब ग्यारह ही निबंध साहित्य से सीधे सम्बन्ध रखने वाले हैं, शेष निबंध संस्कृति, ऋत, जि. कृष्णमूर्ति, लोकसंग्रह, हिंदू धर्म, समकालीन भारतीय दर्शन, भारतीय भाषाओं, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, हिंद स्वराज्य, तकनीकी प्रगति और प्रजातंत्र आदि विविध विषयों पर हैं।

साहित्यसमीक्षा की वर्तमान स्थिति से शल्यजी असंतुष्ट हैं, क्योंकि ''समीक्षक लोग आलोच्य कृति में निष्पन्न रचनाकर्म के स्वरूप और स्वभाव और उसकी सफलता-असफलता के संबंध में कुछ बात ही नहीं करते, वे लेखकों की विचारधाराओं, प्रतिबद्धताओं और रुचियों आदि की बात ही मुख्यतः करते हैं' (प्राक्कथन)। उनका स्वयं का साहित्यसमीक्षा का आदर्श यह है कि समीक्षक का काव्यकृति के काव्यपुरुष के साथ तादात्म्य स्थापित होना चाहिये, या तादात्म्य नहीं भी सिद्ध हो पाये, तो कम से कम 'अभिन्न मैत्री' तो स्थापित होनी ही चाहिये (वही)।

पुस्तक के प्रथम द्वो निबंध—'युगचिंतन और साहित्य चिंतन' तथा 'साहित्य और संस्कृति' शल्य जी की साहित्य विषयक मान्यताओं का निष्कृष्टार्थ प्रस्तुत करते हैं। यहां सबसे पहले मैं इन्हीं दो निबंधों की मुख्य उपपत्तियों की चर्चा करूंगा।

---

* साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन, लेखक—यशदेव शल्य, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९८, पृ. सं. २५८, मूल्य २००/-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

साहित्य के विषय में शल्य जी की मान्यता है कि वह अपने युग का एक अंग है। केवल आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ ही युग का निर्माण नहीं करतीं, दर्शन, साहित्य और कला भी युग बनाते हैं। साहित्य और कला का अपने समय से संबंध तीन स्तरों पर हो सकता है, एक स्तर पर वे युगसत्य को वाणी देते हैं, उसकी प्रवृत्तियों को परिभाषित करते हैं। इस स्तर पर वे अपने युग के अनुयायी ही बन पाते हैं। दूसरे स्तर पर वे, इलियट् के शब्दों में, जिसे शल्यजी ने दो बार यहां उद्धृत किया है (पृ. २ तथा ५) : "एक महान कवि अपने युग की वैचारिक संपदा का संवेगात्मक समतुल्य प्रस्तुत करता है" : साहित्य को युग-संबद्ध मानते हैं। इलियट् का यह कथन काव्यशास्त्र के मम्मट आदि आचार्यों की इस मान्यता से तुलनीय है कि कवि विधाता की सृष्टि या दी हुई दुनिया के समानांतर एक नयी सृष्टि रचता है, जो विधाता की सृष्टि से कहीं अधिक रमणीय, अधिक प्रेरणास्पद और आकर्षक होती है। स्पष्ट ही मम्मट आदि को कवि का अपने वर्तमान जगत् के संवेगात्मक समतुल्य के रूप में कोई जगत् रच कर रुक जाना ही अभीष्ट नहीं है, वे मानते हैं कि कवि लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा इस जगत् को अतिक्रांत करके नयी सृष्टि करता है। शल्य जी भी रचनाकार के द्वारा अपने युग को अतिक्रांत करने में ही उसकी सफलता मानते लगते हैं। "कवि और चिन्तक दोनों अपने युग को अतिक्रांत करते हैं। युगीनता से, संस्कारों से, प्रयत्न और व्यवसाय से मुक्त चेतना सत्य का साक्षात्कार करती है, अथवा कहें, सौंदर्य के सत्य में प्रतिष्ठित होती है। यहां मैं कहना चाहूंगा कि कोई कवि या चिंतक जहां तक यह कर पाता है, जहां तक वह युग-मुक्त हो पाता है, वहीं तक वह युग-चिंतक हो पाता है" (पृ. ६)। गांधी जी शल्यजी के अनुसार ऐसे ही युगचिंतक थे। इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि युग से मुक्त होने का आशय प्राचीन का त्याग नहीं है। गांधीजी ने "नितांत पुराने प्रतीक" अपने विचार और संप्रेषण के लिये अपनाये पर उनके द्वारा प्रयुक्त ये प्रतीक "नवीनतम के प्राचीनतम प्रतीक" हो सके।

कवि और चिंतक दोनों को युग से मुक्त होने की दृष्टि से तुल्य मानना पुनः भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा के अनुरूप है। भट्टतोत का यह वचन प्रायः उद्धृत होता है—'नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।' अपने युग को अतिक्रांत करना, जिसे शल्य जी ने युगमुक्त होना कहा है, महान् कवि की पहचान के लिये उनकी दृष्टि में एक प्रतिमान है। इसीलिये 'कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष हिंदी के अनेक रीतिकालीन कवियों या प्रगतिवादी कवियों से इस दृष्टि से तुलनीय नहीं हैं। प्रथम जबकि देशकाल अपरिच्छिन्न हैं, दूसरे एक सीमित देशकाल में भी अग्राह्य,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

क्योंकि दूसरे दोनों अपने अनुभव का भरोसा नहीं कर, अनुभव के सत्य में प्रतिष्ठित नहीं होकर, किसी बाहरी मानदंड को सत्य का प्रमाण मानते हैं' (पृ. ७)।

तब फिर शल्यजी की दृष्टि में आज के उस साहित्य की क्या प्रस्थिति है जिसमें 'आज के युग के अवच्छेदक प्रतीक 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य', 'सामाजिक परिवर्तन', 'सामाजिक न्याय', 'आर्थिक प्रगति' और 'वैज्ञानिक दृष्टि' आदि हैं: तथा 'ऋत, धर्म, तत्त्व, मोक्ष, साधना, संयम और मनन आदि प्रतीक अग्राह्य हैं?' कवि की 'निजी विशिष्ट मानसिक उलझनों, पारिस्थितिक विद्रूपताओं, सामाजिक असंगतियों और आध्यात्मिक अनास्थाओं' को अपनाने वाली या निरर्थक-निमज्जित कविमानस का ही यथातथ्य वर्णन प्रस्तुत करने वाली कविताओं के समकालीन कवियों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करके शल्यजी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''आज के अधिकांश कवि 'अद्भुत कहने की खुली कोशिश' में हैं, यद्यपि यह भी सही है कि वे आज की उस व्यापक अनास्था में सहभागी भी हैं जो आज के युग की साधारण मनःस्थिति है, जिसे आप युगचिंतन कहते हैं'' (पृ. ८)। कुल मिलाकर आज के साहित्य की ये प्रवृत्तियां यूरोपीय संस्कृति से आयातित प्रभाव हैं। पश्चिम की आप्तता में विश्वास और उससे अभिभूतता ने इस साहित्य में प्रमाद को जन्म दिया है। अपने अतीत का गौरव-मंडन भी इसी तरह का प्रमाद है। आज के साहित्य में प्रश्नाकुलता है, पर यह प्रसाद जैसे महान् कवियों की प्रश्नाकुलता नहीं है, यहां तो 'प्रश्नाकुलता भी एक ढर्रा, एक फैशन, एक प्रश्नविहीन मूल्य बन जा सकती है'' (पृ. १०)।

शल्यजी ने जो निकष प्रस्तुत किया है उसके तहत हिन्दी के छायावादी कवियों में उन्हें केवल प्रसाद उल्लेखनीय लगते हैं, छायावादोत्तर कवियों में केवल अज्ञेय और अपने समकालीन कवियों में केवल रमेशचन्द्र शाह और कुंवर नारायण।

दूसरे निबंध में शल्यजी ने संस्कृति को परिभाषित किया है। मनुष्य को संस्कारित करने की प्रक्रिया संस्कृति है। तो शल्यजी प्रश्न उठाते हैं कि 'प्राद्यौगिकी और गणित को संस्कृति के व्याप्य माना जाये या नहीं? यह अनिश्चय साहित्य, संगीत, धर्म, दर्शन को लेकर नहीं है।' शल्यजी का आशय यह है कि साहित्य, कला आदि भी अपने बाहरी रूप में संस्कृति नहीं हैं। नृत्य में नर्तकी जो हाव-भाव व्यक्त करती है, वे संस्कृति नहीं हैं। वे संकेतों के रूप में संस्कृति से संबद्ध कहे जा सकते हैं। ''संस्कृति कम से कम चित् की मनस्तरीय सत्ता से संबद्ध कही जा सकती है, देहस्तरीय सत्ता से नहीं'' (पृ. १३)। आगे 'कम से कम' के प्रयोग का खुलासा किया गया है। मन से उत्तरवर्ती चित्सत्ता भी मानी जानी चाहिये, और संस्कृति का संबंध इसी से माना जाना चाहिये। शल्य जी चित् के दैहिक, चैत्त और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतिचैत्त—ये तीन स्तर मानने के पक्ष में हैं, और संस्कृति का संबंध उनके अनुसार इनमें से चैत्त और अतिचैत्त के साथ ही माना जाना चाहिये।

वैदिक परंपरा सृष्टि या मनुष्य-जीवन के तीन स्तर मानती आयी है— आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। पर वहाँ ये तीनों स्तर परस्पर संश्लिष्ट हैं। आधिभौतिक के बिना अन्य दो नहीं हो सकते और उनके बिना यह नहीं हो सकता। इस दृष्टि से संस्कृति को देहस्तरीय सत्ता से असंबद्ध मानना उचित प्रतीत नहीं होता। नर्तकी के केवल हाव, भाव, गति, भंगी या चेष्टाओं में संस्कृति नहीं है, वह केवल उस चैतन्य में भी नहीं जो इन हाव-भावादि का अधिष्ठाता और नियामक है। उस चैतन्य के बिना ये हावभावादि सम्भव नहीं और इन हाव-भावादि के बिना यह चैतन्य संभव नहीं। ऐसी स्थिति में संस्कृति का अधिष्ठान इनमें से किसी एक को कैसे माना जा सकता है? या फिर इन दोनों को अयुतसिद्ध मान कर यह कहा जाये कि एक के कथन से अन्य का ग्रहण स्वतः हो जाता है? तब फिर नर्तकी के हाव-भाव में भी संस्कृति अधिष्ठित है—यह कहने में भी अनौचित्य नहीं है—यह मानना होगा।

मेरी समझ से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सत्ताओं का सम्बन्ध पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जैसा है। वाक्यार्थ परमार्थ है। पर उस तक बिना पद और पदार्थ के कैसे पहुँच सकते हैं? वह अखंडतया और अविभाज्यतया वाक्यस्थ पदों में समवेत है। व्यवहार के स्तर पर ही हम उसे अलग कर समझते हैं, अन्यथा उसकी पदों और पदार्थों से स्वतंत्र और स्वायत्त स्थिति नहीं है। बोलने में, लिखने में और साहित्य-रचना में भी पदों या शब्दों को भुला कर तो काम नहीं चलाया जा सकता, और केवल पद और पदार्थ से भी रचना में काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार बड़ी या महान् रचना में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों विश्वों की समवेत उपस्थिति होनी चाहिये, इनमें से किसी एक विश्व को ही निरूपित करने वाली रचना अधूरी है।

शल्य जी चेतना के भी इसी तरह तीन स्तर मानते हैं—एक वह जिसमें विषयी विषयसात् रहता है, दूसरा वह जिसमें विषयी विषय को अपने से निष्कृत कर उसके माध्यम से अर्थभुवनों की सृष्टि करता है, तीसरा वह जिसमें वह इन अर्थभुवनों का भी अतिक्रमण कर अपने में अवस्थित रहता है। साहित्य और कला की सृष्टि इनमें से मध्य के स्तर से होती है। यही सांस्कृतिक अवस्था है (पृ. १४)। इस अवस्था में काम और अर्थ जैसे पुरुषार्थ भी 'विपुलार्थकता की अनंत संभावना से गर्भित रूप में ही पुरुष के भजने योग्य, पुरुषार्थ होने योग्य बनते हैं, स्वयं से नहीं' (पृ. १५)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपनी इन मान्यताओं के द्वारा शल्यजी साहित्य के आकलन की दिशा में प्रवृत्त होते हैं। साहित्य और कला में चेतना विपुलार्थक सृष्टि करती है। पर यह विपुलार्थक सृष्टि देह के स्तर की ओर प्रवृत्त हो कर भी की जा सकती है, और उस स्तर से भी जहां विषयी विषय से नहीं बँधा हो। शल्य जी यहां भी प्रस्तावित करते लगते हैं कि पहले स्तर पर से रचे गए काव्य महान् कृतियां नहीं बन पाते। दूसरे स्तर से विरचित काव्य निश्चय ही महान् होते हैं, जिनका उदाहरण उन्होंने रघुवंश और रामचरितमानस का दिया है। कुल मिलाकर मैं अपने ढंग से कहूं तो आशय यह निकलता है कि साहित्य और कला की सृष्टि भले ही काम पुरुषार्थ की भित्ति पर हो, पर यह काम पुरुषार्थ यदि धर्मसंवलित नहीं है तो ऐसी साहित्य-सृष्टि प्रशंस्य नहीं होती। यहां तक शल्यजी के प्रतिपाद्य से किसी तरह की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। उन्होंने तो वही बात कही है जो सहस्रों वर्षों से हमारे काव्यशास्त्र के आचार्य बताते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने कालिदास के **मेघदूत** और **उत्तररामचरित** की तुलना की है। कुशल प्रकृतिचित्रण तथा सांस्कृतिक प्रतीकों के उपयोग के कारण **मेघदूत** उनकी दृष्टि में महान् कृति तो है, पर "**मेघदूत** की कथारचना एक विरही की दुःख-व्यथा मात्र तक ही सीमित है। यह व्यथा अपने अर्थसंभार में बहुत समृद्ध भी हो सकती है और दरिद्र भी" (पृ. १६)। इसकी तुलना में **उत्तररामचरित** का उदाहरण दिया गया है, जहाँ "मर्यादापुरुषोत्तम और धीरोदात्तों में श्रेष्ठतम नायक के कर्त्तव्य और प्रेम के द्वन्द्व से उपजी व्यथा की कथा होने से वह कथा सहज ही महद् अर्थों से मंडित हो जाती है" (वही)। यक्ष की विरहव्यथा में भी विपुलार्थकता हो सकती है, "जब कवि शारीरिकता से मुक्त हो कर हृदय की अंतर्गुहाओं में प्रविष्ट हो जाय और उनके तल में से अर्थों का संचय कर सके।" राम की विरहव्यथा में विपुलार्थक बनने की सहज संभावना है, यक्ष की विरह-व्यथा में नहीं। इसके साथ ही शल्यजी यह भी मानते हैं कि "काव्य और अन्य कलाओं का मुख्य विषय काममूलक अर्थों का विमर्श ही रहा है और इन अर्थों का विमर्श वे ही कर सकते हैं, दर्शन और शास्त्र आदि विमर्श की दूसरी विधाएं नहीं।"

शल्यजी ने **मेघदूत** और **उत्तररामचरित** पर जो विवेचन यहां किया है वह उन्हें एक अवहित समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। अपना प्रतिमान उन्होंने बड़ी सावधानी से इन दोनों कृतियों पर लागू किया है। **मेघदूत** छोटी रचना है और **उत्तररामचरित** उसकी तुलना में महनीय है ऐसा भी आशय उनका यहां नहीं लगता। संस्कृत साहित्य की परंपरा में इन दोनों कृतियों की परस्पर तुलना कभी की भी नहीं जाती। दोनों अपने अपने क्षेत्र में अप्रतिम हैं। फिर भी शल्य जी की समीक्षा पढ़ते हुए सामान्य पाठक को यही लगेगा कि वे **उत्तररामचरित** को अधिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वरेण्य मानते हैं। कविता के अपेन मानक पर तो मेघदूत महान् रचना सिद्ध हो जाती है, क्योंकि "काव्य की दृष्टि से 'कान्ताविरहगुरुणा खिन्न' यक्ष की कथा भी उतनी ही सफल है, जो कामासक्ति से आगे किसी अर्थ को नहीं जानता" पर उसमें रामचरितमानस और रघुवंश की भांति सारा का सारा अर्थ 'धर्म-परिष्कृत आधार में प्रतिष्ठित' नहीं है।

शल्यजी के इस निरूपण में अंतर्विरोध और वदतोव्याघात प्रतीत होता है। मेघदूत के जिन जिन सांस्कृतिक प्रतीकों के अंकन के लिए उन्होंने कालिदास की सराहना की है वे सब यक्ष के ही कथनों में तो उद्‌घाटित हुए हैं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि यक्ष "कामासक्ति से आगे किसी अर्थ को नहीं जानता"? यह सत्य है कि यक्ष जिस मनःस्थिति में है वहाँ दैहिक सौन्दर्य के प्रति दुर्निवार आकर्षण है। पर आपने तो स्वयं कहा है कि काव्य और अन्य कलाओं का मुख्य विषय काममूलक अर्थों का विमर्श ही रहा है और यह काव्य या कला की शक्ति भी है, क्योंकि काममूलक अर्थ को विमर्श-विषय वे ही बना पाते हैं, दर्शन आदि नहीं। विमर्श का विषय बनाने से अभिप्राय यह हो सकता है कि काम एक मूल्य के धरातल पर प्रतिष्ठित हो सके। इस दृष्टि से मेघदूत तो काम पुरुषार्थ को मूल्य के धरातल तक ले जाता है। एक अनाम अज्ञात यक्ष की विरह वेदना को इस मूल्यवत्ता तक पहुँचाने में बृहत्तर चुनौती है और प्रतिभा का परिस्पंद भी उसमें अधिक है, 'मर्यादा पुरुषोत्तम और धीरोदात्तों में श्रेष्ठतम नायक' के कर्त्तव्यों और प्रेम के द्वन्द्व से उपजी व्यथा की कथा होने से सहज ही महद् अर्थों से मंडित होने वाली कृति में इस तरह की चुनौती कम हो सकती है।

शल्य जी ने काव्य और कला का वैशिष्ट्य काम या प्रेम के निरूपण में ही माना है, क्योंकि अन्य शास्त्र "प्रेम के अर्थ का स्पर्श भी नहीं कर सकते, उसकी अतल गहराइयों को तो वे कहां से पायंगे? प्रेम का यह अर्थ कितना विपुल है, इसे इससे देखा जा सकता है कि असंख्य काव्य, उपन्यास आदि और राग-रागिनियां तथा चित्र आदि इसका अवगाहन और बखान करके भी इसके पारावार के रत्नों और मणियों को निःशेष नहीं कर सके। ये अर्थ दैहिकता से उठ कर चित् के मनोमय स्तर पर अतिक्रामी संकेतों से गर्भित होकर ही आविर्भूत हो सकते हैं" (पृ. १७)। आशय यह है कि काव्य और कला का विषय प्रेम तो बना रहे पर दैहिकता से उसमें ऊपर उठा जाय। यहाँ फिर काव्य और कला में मुख्य रूप से काम पुरुषार्थ के विषय होने की बात जो पहले कही गयी है उससे वदतोव्याघात की शंका उठती है। काम पुरुषार्थ की निष्पत्ति क्या बिना देह के या देह से ऊपर उठकर हो सकती है? देह से ऊपर उठने से क्या आशय है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शल्यजी ने इसके साथ यह भी कहा है कि "काव्य और अन्य कलाएं केवल प्रेम प्रसंगों में बंधी रहें—यह आवश्यक नहीं है, वे उससे निकल कर जीवन के सभी पक्षों को अपना विषय बना सकती हैं" (पृ. १७)। पर श्री अरविंद का **सावित्री** महाकाव्य तो कदाचित् उस स्तर पर स्थित रहकर रचा गया है जिसे शल्य जी ने 'अतिचैत्त' कहा है। पर क्या कारण है कि उनकी प्रस्तुत पुस्तक में, जहां अल्प ज्ञात साहित्यकारों तक की चर्चा है, इस महाकाव्य का कहीं उल्लेख नहीं है? यह कहा जा सकता है कि साहित्य-चिंतन को लेकर लिखी गयी पुस्तक में इस महाकाव्य की चर्चा आये ही, यह आवश्यक तो नहीं है। पर साहित्य पर विश्व भर में होने वाली चर्चाओं में क्या इस महाकाव्य का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण रचना के रूप में कहीं होता है? जहां तक मेरी जानकारी है, नहीं होता। इससे क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि साहित्य या कलाएं काम पुरुषार्थ का मूलाधार यदि छोड़ दें तो उनका महत्त्व और उपादेयता क्षीण हो जाते हैं? **श्रीमद्भगवद्गीता** जैसे ग्रंथ इस निष्कर्ष के अपवाद हो सकते हैं। **गीता** में उत्कृष्ट कविता भी है और दार्शनिक विमर्श भी। यह बात दूसरी है कि उसका पाठ काव्यकृति के रूप में प्रायः नहीं किया जाता। उसके साथ ही, **गीता** भी अन्य किसी दार्शनिक कृति की तुलना में आधिभौतिक आधार पर अधिक अवस्थित है, उसका आरंभ ही युद्धभूमि में होता है।

शंकराचार्य की **सौन्दर्यलहरी** एक दार्शनिक कृति भी है और एक अत्युत्कृष्ट कविता भी। देह के स्तर पर रह कर भी विराट् का ऐसा साक्षात्कार, जिसे शल्यजी ने 'अर्थभुवनों की सृष्टि', 'विपुलार्थता' या 'महद् अर्थों से मंडित होना' कहा है, उसका इतना उज्ज्वल उदाहरण साहित्य में आसानी से नहीं मिलेगा। पर **सौन्दर्यलहरी** के अधिकांश पद्यों में देवी का शिख से ले कर नख तक का वर्णन ही है। उन अवयवों का भी निर्द्वन्द्व अतिशय मनोहारी चित्रण है जिनका नाम शिष्टजनों के समाज में लिया जाना निन्दनीय हो सकता है। शृंगार या काम के चित्र भी इस काव्य में उकेरे गये हैं। लगभग एक हज़ार वर्षों से तो एक महान् रचना के रूप में **सौन्दर्यलहरी** भक्तों और सहृदयों के समाज में समादृत रही है, और इस सदी में इसकी ओर और अधिक ध्यान दर्शन और साहित्य के अध्येताओं का गया है। आपाततः जो कृति देह के वर्णन में व्यापृत प्रतीत होती है वह गहरे अर्थों में दैहिकता को अतिक्रांत भी करती रह सकती है। बल्कि साहित्य में तो दैहिकता का अतिक्रमण देह में पैठ कर ही होता है। फिर **मेघदूत** की दैहिकता पर 'केवल शारीरिक स्मृतियों की कथा' में सीमित रह जाने की आशंका क्यों?

सृजनात्मकता शल्यजी के अनुसार "आत्मप्रतिष्ठित, आत्मप्रामाणिक, आत्म-अव्यवहित चित्त का भाव" है (पृ. १९)। यह भाव भौतिक या दैहिक स्तर को केन्द्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में रखकर निर्व्यूढ़ हो सकता है या नहीं? योगी जन तो आत्मप्रतिष्ठित, आत्मप्रामाणिक और आत्म-अव्यवहित भाव को देह या स्थूल जगत् से ऊपर उठकर ही हासिल कर पाते होंगे, पर कवि को तो यह भाव इसी देह के स्तर पर रह कर पाना होगा, अन्यथा शल्यजी का यह कथन विसंगत हो जायेगा कि "काम पुरुषार्थ की साधना का एकमात्र साधन कलाएं ही होती हैं, और इनमें भी साहित्य में इन अर्थों की विपुलता अन्य कलाओं की तुलना में बहुत अधिक होती है" (पृ. १८)

पर इसके साथ ही शल्यजी ने आत्मप्रतिष्ठित, आत्मप्रामाणिक और आत्म-अव्यवहित भाव की भी एक कसौटी रखी है। इसमें ऐसा बोध होना चाहिए जहाँ 'सृष्टि देवतत्त्व से अभिनिविष्ट और हृदय ईश्वरतत्त्व की सन्निधि में' रहे। इस कसौटी पर अज्ञेय की 'भीतर जागा दाता', 'एक प्रश्न', 'चिड़िया', 'अरी ओ आत्मा री', 'असाध्य वीणा' तथा 'उधार' जैसी कविताओं को वे बहुत खरा पाते हैं। इन कविताओं को उद्धृत करते हुए शल्यजी ने इन पर अत्यन्त सारगर्भित प्रशंसापूर्ण समीक्षा की है, वह उन्हीं के द्वारा संभाव्य थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी रचनाकारों के अलग अलग खेमों में अज्ञेय की धुनाई करने वाले हों, चाहे उन्हें ऊपर उछालने वाले हों, दोनों ने अज्ञेय के काव्य के परमार्थ को जाना नहीं है, शल्यजी ने अज्ञेय को उनकी इनी गिनी कविताओं के बल पर वैदिक ऋषियों और कबीर के पार्श्व में बिठा दिया है (पृ. १९, २१), वह शल्यजी की कविता की अच्छी पकड़ और उनके अपने सुचिंतित काव्यनिकष के अनुरूप है। फिर भी अज्ञेय की जिन कविताओं के विस्तृत उद्धरण देते हुए (पृ. २०-२२) उन्होंने यह विवेचन किया है उन पर शंका होती है कि क्या वे मुकम्मल रचनाएं हैं, कहीं वे दी हुई दुनिया या भौतिक जगत् को भूलकर अपने में उपरत व्यक्ति-मन की अभिव्यक्ति भर तो नहीं हैं? कवि यदि केवल उस भूमि पर रह कर रचना करे जिसे शल्यजी ने चैत्त और अतिचैत्त कहा है, और इन दोनों की आधारभूत भूमि जो दैहिक जगत् की है उसे सर्वथा विस्मृत कर दे, तो क्या उसकी रचना अपूर्ण और कमज़ोर नहीं मानी जायेगी?

भारतीय काव्य-विचार की दृष्टि से अज्ञेय की यहां उद्धृत कविताएं अनिबद्ध या मुक्तक की कोटि में परिगणित की जा सकती हैं। मुक्तक या अनिबद्ध काव्य को पुराने काव्यशास्त्री इसीलिये अधूरा मानते आये हैं। वामन ने काव्यालंकारसूत्र में इसके विषय में कहा है—"नानिबद्धं चकास्त्येकतेजःपरमाणुवत्।" अनिबद्ध या मुक्तक में एक क्षणिक मनःस्थिति की अभिव्यक्ति होने के कारण जीवन की समग्र आभा नहीं होती, वह तेज के एक स्फुलिंग की तरह चमक भर दिखाता है। अज्ञेय की शल्य जी द्वारा विचारित कविताएं फुलझड़ी की तरह ज्योति बिखेर कर चुक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जाने वाली हों, ऐसा भी नहीं है। पर उनमें मनुष्य-जीवन अपनी समग्रता में व्यक्त नहीं है।

मुक्तक की हेयता के बारे में वामन की धारणा को उनके कुछ ही समय बाद हुए काव्यशास्त्री आनंदवर्धन ने तोड़ा है। आनन्दवर्धन ने कहा कि मुक्तक में भी एक पूरे प्रबंध की तरह पूरा जीवन निविष्ट हो सकता है, अमरुक कवि के मुक्तक इसीलिये प्रबंधायमाण हैं। इसमें भी कोई शक नहीं कि अमरुक कवि अपने कुल जमा पाँच या सात श्लोकों के बल पर संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों के साथ पहली पाँत में बिठा दिये गये हैं क्योंकि इन श्लोकों में वे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों विश्वों का अपनी प्रतिभा की उज्ज्वलता में प्रत्यय दे देते हैं। उनके ये मुक्तक महावाक्य या समग्र जीवन की कविता बन जाते हैं। अज्ञेय की इस पुस्तक में उदाहृत कविताओं के बारे में मुझे शंका है कि क्या ये कविताएं महावाक्य बन पाती हैं? आकार में बड़ा होना महावाक्यता की कसौटी नहीं हो सकती और आकार में बहुत छोटी रचना में भी मनुष्य की सत्ता के नाना स्तर कविदृष्टि के आलोक में एक-साथ उतर सकते हैं। उदाहरण के लिये कबीर का यह दोहा---

सब रग तंत रबाब तन बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साईं को चित्त।।

अभिधेयार्थ के स्तर पर यहां रूपक अलंकार है, जो कविता के दैहिक सौन्दर्य में चार चांद लगा गया है। कवि ने अपनी धमनियों को तार और अपने शरीर को रबाब या वीणा बना दिया है, और इस वीणा के तारों पर जो विरह का गीत बज रहा है उसे वह साईं के चित्त के द्वारा सुन रहा है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, या शल्यजी की शब्दावली में देह, चित्त और अतिचित्त ये तीनों सत्ताएं यहां भी इंगित हैं। कवि ने इन्हें एक दूसरे से अलगा कर नहीं देखा, विरह-राग की लय में उसने इन तीनों को बाँध लिया है।

शल्यजी के विवेचन में प्रच्छन्न रूप से ऐसा फतवा सा उभरता लगता है कि दैहिक आधार पर अधिक केन्द्रित रचनाएं तो हेय मानी जायें, चित्त की भूमि को केंद्र में रखने वाली रचनाएं उनसे श्रेष्ठ और अतिचित्त की भूमि पर स्थित होकर लिखी गयी कविताएं सर्वश्रेष्ठ समझी जायें। यह उभार इसलिये झलकता लगा कि इस लेख में अज्ञेय की इस सुविचारित समीक्षा के अलावा प्रस्तुत पुस्तक के अन्य लेखों में अग्निबीज, क्षण और लक्षण, हंसिका, नदी भागती आयी, शालभंजिका--- इन काव्यसंग्रहों तथा अ अस्तु का इस उपन्यास की समीक्षाएं हैं, इन सब समीक्षाओं में समीक्ष्य कृतियाँ इस भौतिक जगत् के आधार से कट कर चैत्त या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतिचैत्त की भूमियों की अधिरचना में उपरत हो गयी लगती हैं। यह आशय उनके इस प्रत्यक्ष कथन से भी ध्वनित होता लगता है कि "काम का पुरुषार्थ रूप में अनुसरण जीवन को पाशव से मानव का स्तर देता है। इसी प्रकार उसका काव्य में विमर्श भी उसे विमर्श की गुरुता और गहनता के अनुसार गुरु और गहन बनाता है, किन्तु धर्म का पुरुषार्थ-रूप में अनुसरण निश्चय ही उसके अनुसर्त्ता को महत्तर बनाता है, और इसी प्रकार उसका विमर्श काव्य को भी बनाता है। मोक्ष पुरुषार्थ का अनुसरण तो महत्तम है और परिणामतः उस अर्थ का विमर्श भी।" एक तरह से यह कविजनों के लिए अप्रत्यक्षतया सीख भी है कि महत्तम काव्य लिखना हो तो वे मोक्ष पुरुषार्थ को अपनी रचना का विषय बनायें, महत्तर काव्य लिखना हो तो धर्म पुरुषार्थ को, अन्यथा अच्छी रचना के लिए फिर काम पुरुषार्थ को ही विषय बना सकते हैं। साहित्य और कला के क्षेत्र में पुरुषार्थ को ले कर इस प्रकार का खाँचों में विभाजन या कंपार्टमेंटलाइज़ेशन ठीक नहीं लगता। पर शल्य जी की समीक्षा-सरणि इस वर्गीकरण के आधार पर ही प्रवृत्त है। उन्होंने रचना की श्रेष्ठता या हेयता का निर्धारण इस दृष्टि से किया भी है कि वह रचना मुख्य रूप से किस पुरुषार्थ को विषय बनाती है। 'असाध्य वीणा' इसलिये श्रेष्ठ है कि उसमें 'परावाक्-भूत बुद्ध के स्वरूप का, अथवा कहें चेतना की संबोधि अवस्था का मूर्त्त बिंबों में अद्भुत अर्थोन्मेष है' (पृ. २२)। 'उधार' कविता में **ईशावास्योपनिषत्** के 'मंत्र में व्यक्त आर्ष साक्षात्कार कवि की अनुभूति में अपने अर्थों के वैभव का समृद्ध और स्फुट प्रत्यक्ष करता दिखायी' देता हैं (पृ. २२) **मेघदूत** में काम पुरुषार्थ मुख्य है, इसलिये **रामचरितमानस** या **उत्तररामचरित** की तुलना में वह शल्य जी को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। पर **मेघदूत** में यक्ष जिस अर्धविक्षिप्त कामातुर मनःस्थिति में है, वहां उसके भीतर दैहिक प्रेम की संकुचित सीमाओं को लांघ कर प्रेम के विराट् रूप का अनुभव जगा पाना, सहज-संभाव्य कवित्व वाला विषय उठा कर महान् रचना करने वाले कवि की अपेक्षा एक अधिक परिणतप्रज्ञ महाकवि के लिए ही संभाव्य हो सकता है। साहित्य या कला के क्षेत्र में अलग-अलग पुरुषार्थों के खांचों में विभाजित कर के कृति का मूल्यांकन किया जायेगा तो इस भेदबुद्धिजनित मूल्यांकन से विसंगतियां होंगी। ऐसी स्थिति में 'मृच्छकटिक', 'वार एंड पीस' या 'डॉ. ज़िवागो' जैसी रचनाएं, जो आधिभौतिक विश्व में अपनी विषयवस्तु को केन्द्रित करके प्रवृत्त हैं, शल्यजी के निकष के तहत महत्तम का दर्जा नहीं पा सकेंगी, जबकि रमेशचंद्र शाह की कविताओं या ज्योत्स्ना मिलन के उपन्यास को यह दर्जा मिल सकेगा, क्योंकि वे काम पुरुषार्थ को नहीं, उससे आगे के पुरुषार्थों को विषय बनाते हैं। कोई कृति काम पुरुषार्थ पर केन्द्रित रह कर भी काम के पाशव या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भौतिक देह मात्र में पर्यवसित रूप की हेयता का गहरा अनुभव दे सकती है। कोई कृति मोक्ष पुरुषार्थ की निरूपक हो कर भी काव्यानुभव में सतही या खोखली हो सकती है। इसलिये भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्य कृति में कौन से पुरुषार्थ का निरूपण हुआ है, इसकी बात करते ही नहीं हैं, वे रस की बांत ही करते हैं। रस का अनुभव अनिवार्यतया पुरुषार्थ से ही जुड़ा हुआ है। जो काव्यानुभव पुरुषार्थप्रवृत्ति न कराये वह रस्य नहीं हो सकता, पर किसी रचना से पुरुषार्थबोध तो हो जाये, पर रसानुभव न हो, तो वह काव्य नहीं है। शल्यजी के सारे विवेचन में काव्यानुभव का और सहृदयों की अनुभूति का यह पारंपरिक निकष निरस्त हो जाता है। उनका जो निकष है उसके तहत शेक्सपीयर भी उत्कृष्ट कवि नहीं हैं, क्योंकि "शेक्सपीयर की महत्ता काम और अर्थपरक पुरुषार्थों के विमर्श की सूक्ष्मता, जटिलता और गहनता में निश्चय ही अद्वितीय है," पर "काम और अर्थ पुरुषार्थों का अनुध्यायी काव्य भी धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों के अनुध्यायी काव्य से तुलनीय नहीं हो सकता" (पृ. २३)।

शल्यजी ने जिस दृढ़ता से अपना काव्यनिकष यहाँ प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है। यह भी सत्य है कि उनका यह प्रतिपादन साहित्य में इस समय साहित्य के अध्ययन और आकलन की जो दृष्टियां प्रचलन में हैं उनसे बहुत हट कर है। पर अपने लेख के अंत में पहुँच कर शल्यजी स्वयं ही अपने बनाये काव्यसमीक्षा के इस सारे प्रतिमान पर प्रश्न खड़ा कर देते हैं। उनके अनुसार पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। "अर्थों का अनुसरण भ्रांतिमूलक सिद्ध हो सकता है। संबोधि अर्थों की आत्मपर्यंतता के अतिक्रमण में है" (पृ. २३)। इस सब की परिणति "कबीर द्वारा मृत्यु को आनंद का द्वार मानने में और पतंजलि द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध देखने में है।" इसके आगे शल्यजी उस दुविधा के स्थल पर पहुँचते हैं जहां "इस बोध की सिद्धि तो साहित्य, संगीत और दर्शन आदि के विलयन में ही सिद्ध होगी, और परिणामतः संस्कृति के विलयन में भी" (पृ. २३)। शल्य जी को इस सर्वविलय या आत्मविलय से कोई दिक्कत नहीं है, दिक्कत यही है कि "क्या साहित्यकार और दार्शनिक इस समाधान को स्वीकार करेंगे?" (पृ.२३)

क्या सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को आत्मविलय ही मानते हैं? जिसमें सारे अनुभव निःशेष हो जायें? ऐसी मुक्ति पर तो दार्शनिकों ने ही व्यंग्य किया है। यदि मान भी लिया जाय कि दर्शन की दृष्टि से तो मोक्ष ही मनुष्य का परम साध्य है, और यह मोक्ष सर्वविलय की स्थिति है, तो साहित्य और कला इस सर्वविलयात्मक मोक्ष को क्यों स्वीकार करें जो भस्मासुरन्याय से उन्हीं का अस्तित्व समाप्त कर देने वाला हो?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री अरविंद को अतिमानस या अतिचैत्त की भूमि पर पहुँच जाने के बाद भी कालिदास की **विक्रमोर्वशीयम्** जैसी काम पुरुषार्थ पर केन्द्रित कृति का रसास्वाद लेने या उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद करने में कोई दिक्कत नहीं हुई। रामकृष्ण परमहंस भी मुक्ति पाने के बाद साधारण नर्तकियों का नृत्य देखने जाते थे और उसे सराहते भी थे, यद्यपि वे वह नृत्य उस भाव से नहीं देखते थे जिस भाव से दैहिक स्तर में सीमित बुद्धि वाले लोग देखते हैं। तब फिर यह कैसे मान लिया जाय कि मुक्ति काव्य या कलाओं का भी विलय ही कर देने वाली वस्तु है?

मोक्ष की यह विवृति तो साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार्य नहीं हो सकती, पर शल्यजी ने साहित्य के अपने यथार्थ को जिस तरह परिभाषित किया है वह यथार्थ की भारतीय अवधारणा की विचारणीय विवृति है। 'कथा, मिथक और यथार्थ' शीर्षक लेख में शल्यजी ने मिथक को दिव्य भाव का आयाम तथा मिथकीय पात्रों को दिव्य शक्तियाँ या दिव्य भाव के रूप में परिभाषित किया है। इसी क्रम में वे कहते हैं—"एक तथाकथित जनवादी कथा या कविता यथार्थ से दूर हो सकती है और परियों के लोक की कथा नितांत यथार्थ। उदाहरणतः फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास इसलिये यथार्थमूलक हैं क्योंकि उनके द्वारा लेखक अपने अनुभव का सत्य पाता है, किंतु उससे भी अधिक यथार्थमूलक रामचरितमानस है जिसके पात्र इस लोक से असंबद्ध हैं, क्योंकि उसमें एक संपूर्ण जाति का अनुभव अपना सत्य पाता है"(पृ.२९)। यहाँ संपूर्ण जाति के अनुभव के सत्य का उद्घाटन और लोक से असंबद्धता के बीच जो कार्य-कारण-भाव संबंध मान लिया गया है वह उचित नहीं होगा। "जहां जहां इस लोक से असंबद्ध पात्रों का चित्रण हो वहां-वहां संपूर्ण जाति का सत्य अभिव्यक्ति प्राप्त करता है" ... इस तरह की व्याप्ति बना दी जाये तो शल्यजी की मोक्ष की आत्मविलयवादी अवधारणा की ही तरह इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'गणदेवता', 'प्रथम प्रतिश्रुति' या 'गोदान' जैसे उपन्यासों में हमारा जातीय सत्य अभिव्यक्त हुआ है, इनके पात्र अलौकिक नहीं हैं। अलौकिक पात्रों को लेकर समग्र जातीय सत्य को उद्घाटित कर सकने वाली रचनाएं इक्की-दुक्की ही मिल सकती हैं, अलौकिक पात्रों को लेकर भ्रमजाल का वितान तानने वाली रचनाएं बहुत ज्यादा हैं। फिर 'एक संपूर्ण जाति के अनुभव के अपने सच' से आशय क्या है? क्या किसी एक कृति में हमारे अनुभव का पूरा सच उतर सकता है? कोई भी कृति सत्य का एक पक्ष ही प्रायः उघाड़ पाती है, पर यह उद्घाटन हमें संपूर्ण को पहचानने की ओर प्रवृत्त करे, यह आवश्यक है। **रामचरितमानस** में राम गुसाईं या ईश्वर हैं। **वाल्मीकीयरामायण** में वे एक मनुष्य हैं। मुझे और मेरे जैसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कई साहित्य-पाठकों को वाल्मीकि की रचना में सत्य की जितनी प्रखर पहचान मिलती है उतनी तुलसी की रचना में नहीं मिलती।

प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे की **साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति** तथा श्री मुकुंद लाठ की **संगीत एवं चिंतन** पुस्तकों पर शल्यजी की विस्तृत समीक्षाएं मननीय हैं। इस पुस्तक के द्वारा हमारे समय की रचनाशीलता के कुछ ऐसे पक्षों का परिचय मिलता है जो अन्य स्रोतों में इस प्रकार चर्चित नहीं हैं। रमेशचन्द्र शाह की कविताओं पर चर्चा करते हुए शल्य जी ने बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की 'दृष्टिशून्यता' की अवधारणा को काव्यात्मक रूप में प्रतिफलतित पाया है। यह प्रतिफलन शाह के काव्य में 'सहज साधारण मुक्त प्रत्यक्ष' के रूप में हुआ है (पृ. ८०)। शाह की कविताओं में अलौकिकता का दर्शन शल्य जी ने जिस प्रकार किया है वह भी आज के हिन्दी समीक्षा के परिदृश्य में अन्य किसी समीक्षक के लिए संभाव्य नहीं था। शाह के काव्य से जो उद्धरण उन्होंने दिये हैं उनमें कवि सृष्टि के कौतुक को देखता हुआ लगता है। शल्यजी का कहना है कि यह दर्शन बिना किसी विशेष, रूढ़ और अभिसंस्कृत पदावली के आयोजन के किया गया है। पर यहां 'चीड़' कविता का जो विस्तृत उद्धरण उन्होंने दिया है उसमें 'चीड़', 'भीड़', 'रीढ़' और 'मीड़' की जो लगभग बेतुकी तुक भिड़ाई गयी है उस पर शल्यजी का कदाचित् ध्यान नहीं गया। वे तो शाह की कविताओं में प्रकृति के उस 'शुद्ध रूपदर्शन और शुद्ध संगीत-श्रवण' पर मुग्ध हैं जो "इतना सहज रूप में हिंदी काव्य में आपको अन्यत्र नहीं मिलेगा" (पृ. ८१)। इस प्रकार का 'अपरोक्ष और निराडंबर' प्रकृतिवर्णन उनके अनुसार हिन्दी कविता में अत्यंत दुर्लभ है।

शल्यजी ने जिसे वस्तुओं का अपरोक्ष और निराडंबर वर्णन कहा है उसे प्राचीन आचार्यों ने स्वभावोक्ति कहा है। "रूप का साक्षात् या प्रत्यक्ष दर्शन" जो 'अर्थ के तदवस्थत्व' का बोध करा दे, जाति या स्वभावोक्ति अलंकार का अपना वैशिष्ट्य माना गया है, एक तरह से कविता का सर्वथा अनलंकृत होना ही यहां उसका अलंकार बन जाता है। प्रो. गोविन्दचंद्र पांडे ने **सौन्दर्यदर्शनविमर्शः** पुस्तक में शांतरसप्रधान बौद्ध काव्य की चर्चा की है, वहाँ भी चीज़ों को निराडंबर रूप में देखा जाता है। पर शाह की कविताओं के जो अंश यहाँ शल्यजी ने उद्धृत किये हैं उनमें तो प्रकृति पर कवि अपनी मनःस्थिति का रंग चढ़ा कर उसे चित्रित करता लगता है। यह सत्य है कि इससे प्रकृति का वह विशिष्ट रूप उन्मीलित हो जाता है जिसे हम स्थूल बुद्धि और स्थूल इन्द्रियों से नहीं बूझ पाते। महिमभट्ट ने वस्तुओं के दो रूप माने हैं—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप तो लोक में सभी अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं पर वस्तु के विशिष्ट रूप को कवि ही अपनी प्रतिभा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से उघाड़ पाता है। "आसमान के चेहरे पर भी/ पुती हुई है राख/" या "बूढ़े के बचपन सा/ हौले हौले/ जाग रहा है/ वाद्यवृन्द जंगल का/" (पृ. ८१ पर उद्धृत) इस तरह के बहुत रमणीय बिंब इस विशिष्ट रूप को ही उघाड़ते हैं, पर इन्हें स्वभावोक्ति या प्रत्यक्ष निराडंबर दर्शन का उदाहरण माना जाना विचारणीय है।

पूरी पुस्तक में शल्यजी हमारी परंपरा को केवल अतीत की परंपरा के रूप में देखने और वर्तमान की परंपरा के लिए पश्चिमाभिमुखी होने का विरोध करते हैं। शास्त्रों में भाष्य की परंपरा का उनका भाष्य मननीय और बहुत सही है— "भाष्यकर्त्ता को मूलचिंतक के चित्त में प्रवेश नहीं करना होता बल्कि उस दृष्ट विषय का साक्षात्कार करना होता है जो मूल चिंतक की चेतना में उन्मिषित हुआ है, अथवा कहें कि जिनका मूल चिंतक को साक्षात्कार हुआ है।" 'चेतना में उन्मेष' और 'साक्षात्कार' ये दो परस्पर विरोधी जैसे पद यहाँ जानबूझ कर समानार्थक के समान प्रयुक्त किये गये हैं, क्योंकि गहन चिंतन या मनन में प्रकट अर्थ चित्त में अवतरित ही होते हैं, और इनके मूल स्रोत चैत्त नहीं होकर अतिचैत्त और अनेक निर्वचनों की संभावनाओं से युक्त होते हैं। यदि और गहराई में जा कर देखा जाय तो मूल प्रतिपादन भी उन्मिषित अर्थ के अनेक संभाव्य निर्वचनों में एक होता है, उसके भाष्य अपने-अपने निर्वचन की गंभीरता में उतरते हुए प्रायः ही उसके परे भी चले जाते हैं" (पृ. १२९)। **ब्रह्मसूत्र** या **श्रीमद्भगवद्गीता** जैसे ग्रंथों के अनेक परस्पर विरोधी प्रस्थानों के आचार्यों द्वारा किये गए भाष्यों की परंपरा को शल्यजी के इस विवेचन के आलोक में ही समझा जा सकता है। शल्य जी के लेखन पर भी उनके स्वयं की यह विवृति लागू होती लगती है, वे अतिचैत्त चैतन्य में साक्षात्कार करके अपना विवेचन उपन्यस्त करते हुए प्रतीत होते हैं। कहीं-कहीं वे प्राचीन चिंतकों की कोटियों को एक भाष्यकार के रूप में नये आलोक में भी प्रस्तुत करते हैं। अलंकार की उनकी व्याख्या इस दृष्टि से अवधेय है। 'चन्द्रमुखी' या 'गजगामिनी' जैसे प्रयोग अलंकार के उदाहरण नहीं हैं, क्योंकि "यह प्रयोग काव्यात्मक नहीं लग कर चामत्कारिक अधिक लगता है" (पृ. १३३)। काव्यभाषा "साधारण भाषाप्रयोग का उपचार" नहीं, बल्कि "भिन्न प्रकारक अनिवार्य भाषाप्रयोग" है। फिर भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि काव्यभाषा में साधारण भाषा का उपचार क्या नहीं होता? शल्य जी की व्याख्या मान ली जाय तो "आरती करती वाक्, झलमला ज्योतिश्चक्र, देखते सुनते अवाक्, स्पंदित प्राण समग्र" (पृ. १३३ पर उद्धृत) जैसी पंक्तियाँ ही कविता मानी जायेंगी, क्योंकि इनमें "वाक् का भावदृष्टि में साक्षात्कृत तत्त्व" है। उन्होंने ऐसी पंक्तियों में कला को सौंदर्यपरक मानकर उत्प्रेक्षा अलंकार बताने को अनुचित कहा है। अब साहित्यशास्त्रीय लक्षणों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के अनुसार यहां उत्प्रेक्षा अलंकार किसी को यदि प्रतीत होता है तो वह क्यों न बताये? शल्यजी का आशय यह है कि उत्प्रेक्षा मानने पर इन पंक्तियों में जो भावदृष्टि में साक्षात्कृत तत्त्व है उसकी व्याख्या नहीं हो पाती, वाक् का आरती करना आदि कवि की दृष्टि में संभावना (उत्कट कोटिक संदेह) न होकर एक वास्तविकता है। इसे उन्होंने रूपकात्मक भाषा कहा है। ऐसी स्थिति में यहां रूपक अलंकार माना जाना चाहिये, जो अभेदप्रतिपादक अलंकार है। यह मान्यता साहित्यशास्त्री के लिये स्वीकार्य नहीं हो सकती कि अलंकार का प्रतिमान ओछा पड़ रहा है और कविता उससे आगे जा रही है। अप्पयदीक्षित ने वाच्यालंकार और व्यंग्यालंकार ये दो प्रकार के अलंकार माने हैं। यदि यह कहा जाय कि रूपक अलंकार इस प्रकार के स्थलों पर अभिधेय में नहीं कहा गया है, अतः रूपक अलंकार नहीं है, तो व्यंग्य रूपक अलंकार यहाँ मानना होगा।

इस पुस्तक में दर्शनशास्त्र की समस्याओं से संबद्ध निबंध विशेष रूप से प्रासंगिक और आज के प्रश्नों से जुड़े हुए हैं। 'अन्यत्व और उसके विविध रूप' तथा 'भारतीय परंपरा में लोकसंग्रह की अवधारणा' जैसे निबंधों में प्राचीन परंपराओं और आज के भावबोध की व्याख्या का संरंभ है। भारतीय परंपरा को लोकोन्मुख परंपरा के रूप में देखा जाये या अतिलोकोन्मुख परंपरा के रूप में? शल्य जी के विचार में तिलक या दयानंद जैसे विचारक "भारतीय समाज की तात्कालिक दुर्गति का निदान खोजने के लिए परंपरा का आवश्यकतानुसार उपयोग" करते हुए भारतीय संस्कृति में लोकोन्मुखता का आदर्श प्रतिपादित करते हैं, वे भारतीय संस्कृति की वास्तविकता प्रतिपादित नहीं करते। शल्यजी के इस प्रतिपादन से सहमत होना कठिन है। उनके अनुसार तिलक जैसे विचारक या समाजकर्मी भारतीय संस्कृति या परंपरा की मूलधारा से हटकर उसके हाशिये पर रह जाते हैं, उसकी मूलधारा का प्रतिपादन अरविंद, रामकृष्ण परमहंस या गोपीनाथ कविराज आदि ही करते हैं। यदि अरविंदादि के मत में भारतीय परंपरा अतिलोकोन्मुख ही है तो उनका मत भी उसी प्रकार एकपक्षीय है जिस प्रकार भारतीय परंपरा को पूर्णतः ऐहलौकिक मानने वलों का पक्ष। तब भारतीय परंपरा को किस रूप में देखा जाये? ईशावास्य का यह वचन यहाँ विचारणीय है—"जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत को पाता है।" यहाँ श्रुतिवचन में 'युगपद् उभयं सह' का कथन लोकोन्मुखता और अतिलोकोन्मुखता दोनों पर एकदम बराबर ज़ोर रखने की बात ही कहता है, परा और अपरा में या विद्या और अविद्या में किसी एक को ही ऐकांतिकतया काम्य अथवा एक को उत्कृष्ट और दूसरी को अनुत्कृष्ट मानने की दृष्टि मूलतः हमारी दृष्टि नहीं रही। शल्यजी के अनुसार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कामसूत्र और **अर्थशास्त्र** में भारतीय मनीषा का उत्कर्ष खोजने वाले भारतीय संस्कृति के नवसर्जन की इच्छा से प्रेरित हैं और उनकी यह नवसर्जन की इच्छा भी पश्चिम के उथले प्रभाव से प्रेरित है। शल्यजी ने इस संभावना पर विचार नहीं किया है कि भारतीय परंपरा को मूलतः अतिलोकोन्मुख मानने वाला पक्ष भी पश्चिमी उपनिवेशवाद के दुष्प्रभाव से प्रेरित हो सकता है, जैसा हाल के कुछ वर्षों में एडवर्ड सैद या रामविलास शर्मा आदि प्रतिपादित करते आ रहे हैं। न तो गौतम बुद्ध हमारी परंपरा और संस्कृति के उसकी समग्रता में प्रवक्ता हैं न रामकृष्ण परमहंस या गोपीनाथ कविराज ही। शल्यजी के ही शब्द उधार लेकर मैं यह कहूंगा कि ये भी अपने समय की 'तात्कालिक दुर्गति का निदान खोजने के लिए परंपरा का आवश्यकतानुसार उपयोग' करते हैं। काव्य, शिल्प आदि को भी संस्कृति का अंग मानने से इन्कार करना (पृ. १८६) यहाँ इसी पुस्तक के आरंभिक दो लेखों के प्रतिपाद्य का वदतोव्याघात करता है। शल्य जी वात्स्यायन के **कामसूत्र** और कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** को भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का अंग नहीं मानते, वे भारतीय सभ्यता की परंपरा के अंग हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में कौटिल्य स्वयं अर्थ की एक पुरुषार्थ के रूप में साधना करने की पद्धति का प्रतिपादन करते हैं। शल्यजी के अनुसार पुरुषार्थ की साधना तो संस्कृति का ही हिस्सा है। फिर संस्कृति के क्षेत्र से अर्थशास्त्र को बहिष्कृत कैसे कर दिया जाये? ''भारत संक्रांति में' शीर्षक लेख के ये कथन (पृ. २१२-२१३) इन विप्रतिपत्तियों का समाधान कर सकते हैं—''भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति है। ... अध्यात्म अतिक्रामी होता है। यह अतिक्रामिता सर्वसमावेशी होती है।'' भारतीयता को आजकल कुछ विचारक 'बहुलता की संस्कृति' के द्वारा परिभाषित कर रहे हैं, उसका शल्यजी ने प्रतिवाद किया है (पृ. १८६)। इस बहुलतावाद के बरक्स उन्होंने सर्वसमावेशितावाद की बात रखी है। पर सर्वसमावेशितावाद में परंपरा के समग्र से किसी एक पक्ष को हटा कर और उसे अलग करके नहीं देखा जाना चाहिये। शल्यजी को 'जीवनदृष्टि के रूप में केवल निम्न परंपराएं दिखायी देती हैं—वेद, उपनिषद्, सांख्य, शून्यवाद, विज्ञानवाद, गीता और विभिन्न वेदांतदर्शन संप्रदाय' (पृ. १८७)। दूसरी ओर वे 'भविष्योन्मुख सृजनात्मक परंपरा' को संस्कृति मानते हैं (पृ. २१६)। तब फिर भविष्य की ओर दृष्टि रख कर परंपरा के ऐहलौकिक पक्ष को पुरस्कृत कर उसके द्वारा संस्कृति की नवरचना का यदि प्रयास कहीं हो रहा है तो उसे संस्कृति का अंग मानने से इंकार क्यों?

यद्यपि यह पुस्तक अलग अलग लिखे गये फुटकर लेखों का संग्रह है, तथापि इसमें सर्वत्र एक प्रखर विचारक उपस्थिति है जो शल्यजी की पहचान है। मेरे द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसके कुछ लेखों में उपस्थापित मान्यताओं पर जो प्रश्न या विप्रतिपत्तियां उठायी गयी हैं उन्हें जिज्ञासा-संवादहेतुक विवाद की दृष्टि से ही देखा जाना चाहिये, वितंडा या धृष्टता मान कर नहीं। अंत में इस पुस्तक की एक कमी की ओर सर्वथा अवांतर प्रसंग के रूप में संकेत करना उचित समझता हूं। ऐसा प्रतीत होता है कि शल्यजी आज साहित्य में जो कृतियां चर्चित हो रही हैं या अच्छी मानी जा रही हैं, उनसे परिचय प्राप्त करने के प्रति बहुत उत्सुक और जागरूक नहीं हैं। साहित्य की उन कृतियों को वे बहुत तन्मय हो कर पढ़ते हैं जो उन्हें जँचती हैं, या जिनमें, उन्हीं के शब्दों में कहें तो 'अतिलोकोन्मुख' प्रवृत्ति प्रकट हुई हो। "भारत में भारतीय भाषाएं ही क्यों हों" शीर्षक लेख में प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद के एक लेख के हवाले के द्वारा (पृ. २१६) "आनन्दमूर्ति लिखित एक नाटक संस्कार के नायक प्राणेशाचार्य" का उदाहरण दिया गया है। जहां तक मेरी जानकारी है, आनंदमूर्ति नाम के किसी कथित लेखक का 'संस्कार' नामक कोई नाटक कदाचित् है नहीं। हाँ, यू.आर. अनंतमूर्ति का संस्कार नाम से एक उपन्यास अवश्य है जो अनेक भारतीय भाषाओं में अनूदित है तथा जिस पर फिल्म भी बन चुकी है। यू.आर. अनंतमूर्ति हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण लेखक माने जाते हैं। शल्यजी उनके कृतित्व से अपरिचित प्रतीत होते हैं। मुझे शक है कि उन्होंने संस्कार नाम का वह कथित नाटक स्वयं पढ़ा है। फिर भी उनकी दृष्टि में "संस्कार नाटक का प्राणेशाचार्य हमारे मानस में उतर कर छा रही इस असंस्कृति का बहुत सटीक प्रतीक है" (पृ. २१८)। इस लेख की पादटिप्पणी में इस कथित नाटक को कृष्णमूर्ति द्वारा लिखित बता दिया गया है। इस पादटिप्पणी में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद नाम के किन्हीं विद्वान के लेख का अनुसरण करते हुए संस्कार के प्राणेशाचार्य पर जिस भाषा में कटाक्ष किया गया है वह यदि सचमुच यू. आर. अनंतमूर्ति के उपन्यास के नायक के बारे में है तो निश्चय ही साहित्य के प्रेमियों के बीच यह शोभनीय नहीं मानी जायेगी। किंचित् स्खलन—'क्या भारतीय संस्कृति एक सम्मिश्र संस्कृति है' शीर्षक लेख में हुआ है, जहाँ इस्लाम एंड इंडियन कल्चर' पुस्तक के लेखक बी.डी.पांडे कहे गये हैं पर पादटिप्पणी में इसी पुस्तक के लेखक बी.एन.पांडेय हैं। अस्तु।

राधावल्लभ त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
डॉ.हरिसिंह गौड़ विश्वविद्यालय,
सागर ४७०००३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'साहित्य-चिंतन और युग-चिंतन' पुस्तक की समीक्षागत कुछ भ्रांतियों का निराकरण

ऊपर दी गई समीक्षा में प्रोफेसर राधावल्लभ त्रिपाठी ने पुस्तक के २९ लेखों में से ५ को समीक्षा का विषय बनाया है। इनमें भी दो पर कुछ विस्तार से विचार किया है और ३ पर केवल आंशिक रूप से। इस समीक्षा से ऐसा लगता है कि त्रिपाठी जी ने समीक्षित लेखों को पर्याप्त ध्यान से नहीं पढ़ा है, जिससे विस्तृत रूप से समीक्षित दोनों लेखों को और आंशिक रूप से समीक्षित तीन में से एक लेख को समझने में काफी दोष रह गए हैं। किन्तु प्रोफेसर त्रिपाठी एक बहुत प्रतिष्ठित विद्वान हैं और प्राज्ञ भी हैं, इसलिए पाठक उनके प्रस्तुतीकरण को तो सही मान कर ही चलेंगे, उनकी टिप्पणियों से वे चाहे सहमत नहीं भी हों। इसलिए यहाँ उनके द्वारा मेरे विचार के प्रस्तुतीकरण में हुई भ्रांतियों का निवारण आवश्यक हो गया है। उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियों के सम्बन्ध में यहां मैं कुछ नहीं कहूंगा।

प्रथम लेख 'साहित्य-चिन्तन और युग-चिन्तन' पर साधारणत: उन्होंने कोई आलोचनात्मक टिप्पणी नहीं की है, किन्तु उसे प्रस्तुत करने में उनसे बहुत भूलें हुई हैं। उन्होंने लिखा है, "शल्य जी की मान्यता है कि ... साहित्य और कला का अपने समय से सम्बन्ध तीन स्तरों पर हो सकता है, एक स्तर पर वे युग-सत्य को वाणी देते हैं ... इस स्तर पर वे अपने युग के अनुयायी ही बन पाते हैं। दूसरे स्तर पर वे इलियट के शब्दों में, जिसे शल्य जी ने दो बार यहाँ उद्धृत किया है "महान कवि अपने युग की वैचारिक सम्पदा का समतुल्य प्रस्तुत करता है।" (यहाँ थोड़ा वाक्य रचना-दोष रह गया है, किन्तु वह उपेक्षणीय है।) अब, मैंने अपने इस लेख में ऐसा कुछ नहीं कहा है। इलियट को मैंने उद्धृत भी नहीं किया है। मैंने प्रो. रमेशचन्द्र शाह के एक लेख से उद्धरण दिया है, इलियट का उद्धरण उस उद्धरण का भाग है। अब, शाह के मत का मैंने खण्डन किया है और इस प्रकार परोक्षत: इलियट के इस कथन का भी। मेरे लेख में वह सारा प्रसंग इस प्रकार है : "डॉ. रमेशचन्द्र शाह 'प्रसाद और छायावाद की प्रासंगिकता' लेख में टी.एस. इलियट को उद्धृत करते हुए कहते हैं : "बड़ा कवि अपने युग की वैचारिक सम्पदा का, वैचारिक उथल-पुथल का समतुल्य खड़ा कर देता है।" किन्तु यदि कोई युग दिग्भ्रांत और अविचाराग्रही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हो तब? तब भी क्या कवि को यही करना होगा? या कि उसे दिशा, आधार और संत्यदृष्टि देनी होगी?'' इलियट के इस वाक्य का, शाह के ही मत के उल्लेख के प्रसंग में पुनः उल्लेख करते हुए मैंने लिखा है, ''... किन्तु तब इस का अर्थ हुआ कि कवि और दार्शनिक युग के नायक नहीं, उसके अनुयायी होते हैं...। किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है।'' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मैंने कवियों के युग के अनुयायी होने को अभीष्ट नहीं कहा है और न मैंने इलियट को या रमेश जी को अपने समर्थन में उद्धृत किया है।

इस लेख की समीक्षा के अन्त में त्रिपाठी जी लिखते हैं, ''शल्य जी ने जो निकष प्रस्तुत किया है उसके तहत हिन्दी के छायावादी कवियों में उन्हें केवल प्रसाद उल्लेखनीय लगते हैं, छायावादोत्तर कवियों में केवल अज्ञेय और अपने समकालीन कवियों में केवल रमेशचन्द्र शाह और कुँवर नारायण।" यह बड़ा विचित्र आरोप है और बहुत भ्रांतिपूर्ण भी। प्रथम तो इन चारों कवियों को मैंने एक ही निकष के तहत उद्धृत नहीं किया, प्रसाद को भिन्न निकष के तहत उद्धृत किया है। दूसरे, इन्हें उल्लेखनीयों के रूप में उद्धृत नहीं किया है एकमात्र उल्लेखनीयों के रूप में उद्धृत करने का तो फिर प्रश्न ही कहाँ उठता है। तीसरे, रमेशचन्द्र शाह को उद्धृत किया ही नहीं है, मंगलेश डबराल को उद्धृत किया हैं।"

'साहित्य और संस्कृति' लेख के प्रस्तुतीकरण में भ्रांति और भी गहरी दिखायी देती है। उन्होंने इस लेख का विषय 'साहित्य का स्वरूप' समझते हुए इसे प्रस्तुत किया है और उस पर टिप्पणी की है जबकि इसका विषय मनुष्य के सांस्कृतिक अभिनिवेश में साहित्य का स्थान है। उन्होंने संस्कृति की परिभाषा भी मेरे नाम पर अपनी दे डाली है। मैंने संस्कृति की परिभाषा कहीं परोक्ष रूप से भी 'मनुष्य को संस्कारित करने की प्रक्रिया' नहीं दी है, मैंने संस्कृति को 'अर्थ-भुवनों की सृष्टि' कहा है। किन्तु यह भी पूरी परिभाषा के रूप में नहीं एक आंशिक परिभाषा के रूप में। यहीं आगे वे प्रौद्योगिकी और गणित को संस्कृति का व्याप्य मानने में मेरे संदेह और साहित्य, दर्शन आदि को व्याप्य मानने में असंदिग्धता का आशय बताते हुए कहते हैं ''इसका अर्थ हो जाता है कि साहित्य, कला आदि भी अपने बाहरी रूप में संस्कृति नहीं हैं। नृत्य में नर्तकी जो हाव-भाव व्यक्त करती है वे संस्कृति नहीं हैं।'' मेरे किसी कथन का ऐसा आशय लिया जा सकता है ऐसा मेरी कल्पना से भी बाहर की बात है। तब तो दर्शन को भी उसके लेखन से और संगीत को स्वर-ताल से अलग मानना होगा। अवश्य कोई प्रसंग विशेष में ऐसा भेद कर सकता है, किन्तु वे भिन्न प्रकार के प्रसंग होते हैं और उनमें यह भेद ही मुख्यतः विवक्षित होता है। मेरी ऐसी विवक्षा नहीं है इसमें संदेह के लिए भी अवकाश नहीं है। इसी प्रकार आगे उन्होंने काम पुरुषार्थ विषयक मेरा आशय बताया है, ''साहित्य और कला की सृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भले ही काम पुरुषार्थ की भित्ति पर हो, पर यह काम पुरुषार्थ यदि धर्म संवलित नहीं है तो ऐसी साहित्य-सृष्टि प्रशंस्य नहीं है।" मेरे विचार की ये दो व्याख्याएं मुझे उपहासास्पद बनाने जैसी हैं, यद्यपि उन्होंने ये सहमतिपूर्वक ही दी हैं। किन्तु यदि ऐसा हो : यदि धर्म संवलित काम ही प्रशंस्य हो : तो आज के अधिकांश उपन्यास, वारे शाह की हीर, जायसी का पद्मावत्, राधा को लेकर लिखा गया सारा कृष्ण-काव्य निंद्य हो जाएंगे। मैंने स्पष्ट रूप से काम पुरुषार्थ की स्वतंत्र पुरुषार्थ के रूप में ही चर्चा की है। दैहिक स्तर पर यह वृत्ति नितान्त अर्थ-कृछ्र होती है, इसलिए इसे मैंने काव्य और संस्कृति के स्तर के अयोग्य कहा है। वास्तव में इसी स्तर पर इसे धर्म के अनुशासन की आवश्यकता होती है जिस कारण यह विवाह के रूप में एक सामाजिक संस्था के अधीन स्थापित किया जाता है। अपने स्वतंत्र रूप में यह मानसिक स्तर पर प्रेम में अतिक्रमित होकर अर्थ-विपुलता की सम्भावना से गर्भित होता है। दोनों ही स्तरों पर इसका स्वरूप अन्य से सायुज्य :तादात्म्य: लाभ की उद्विग्नता का होता है : रांझा रांझा आखदी मैं आपई रांझा होई। मानसिक स्तर पर यह उद्विग्नता विरह में अपनी उत्कटता प्राप्त करती है और विरह की पराकाष्ठा परकीय-परकीया भाव में होती है, क्योंकि इस भाव में यह मिलन में भी विरह की, खो जाने की, सम्भावना से अन्तर्निविष्ट रहता है। इसी से भक्तों ने भी इसी भाव को वरीयता दी है और काव्य में भी प्रेम इसी भाव में निरूपित हुआ है। किन्तु यह भाव तो धर्म विरुद्ध भाव है, तब प्रेम की पुरुषार्थता धर्म के शासन में कैसे सिद्ध होंगी? इसका उत्तर है कि मन:स्तर पर उत्क्रमित काम : प्रेम : को किसी बाह्य शासन की अपेक्षा नहीं होती, वह अपने-आप में एक उदात्त भाव होता है और वह स्वत: प्रमाण होता है और धर्म के भावमय रूप के अविरुद्ध होता है। अतिचैत्त स्तर पर तो यह स्वयं धर्म का ही सबसे स्पृहणीय रूप---भक्ति होता है। संस्कृत काव्य में यद्यपि प्रेम विवाह में ही परिणत होता है किन्तु प्रेम-वर्णन विवाह से पूर्व के आकर्षण को लेकर ही किया गया है। आधुनिक काव्य में विवाह प्राय: अप्रासंगिक ही रहता है। धर्म पुरुषार्थ को मैंने काम पुरुषार्थ से श्रेष्ठतर स्वतंत्र पुरुषार्थ के रूप में ही कहा है और उसका कारण इसमें काम की तुलना में अर्थ विपुलता की अधिक सम्भावना को कहा है। काम के धर्म से अनुशासन की बात मैंने कहीं परोक्ष रूप में भी नहीं उठायी है। इसलिए इसको लेकर की गई त्रिपाठी जी की पूरी टिप्पणी भ्रममूलक है। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस लेख पर एक गोष्ठी हुई और तीन लेख लिखे गये,[1] उनमें किसी भी लेखक को इस प्रकार की भ्रांतियाँ नहीं हुईं।

---

[१] इस गोष्ठी की कार्यवाही तथा तीन लेख उन्मीलन के जनवरी 1997 अंक में प्रकाशित हुए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस लेख की समीक्षा के अन्त में त्रिपाठी जी लिखते हैं, ''शल्य जी के विवेचन में प्रच्छन्न रूप से ऐसा फतवा-सा उभरता लगता है कि दैहिक आधार पर अधिक केन्द्रित रचनाएं तो हेय मानी जायें, चित्त की भूमि को केन्द्र में रखने वाली रचनाएं उनसे श्रेष्ठ और अतिचैत्त की भूमि पर स्थित होकर लिखी गई कविताएं सर्वश्रेष्ठ समझी जायें। यह उभार इसलिए झलकता लगा कि इस लेख में अज्ञेय की इस सुविचारित समीक्षा के अलावा प्रस्तुत पुस्तक के अन्य लेखों में **अग्निबीज, क्षण और लक्षण, हंसिका, नदी भागती आयी, शाल भंजिका** इन काव्य संग्रहों तथा **अ अस्तु का** इस उपन्यास की समीक्षाएं हैं। ... साहित्य और कला के क्षेत्र में पुरुषार्थों को लेकर इस प्रकार का खाँचों में विभाजन ठीक नहीं लगता।'' किन्तु मैंने क्या इन रचनाओं की समीक्षा में कहीं एक शब्द भी पुरुषार्थों को लेकर कहा है? मैंने तो इस पुस्तक के प्राक्कथन में ही किसी कलाकृति के मूल्यांकन का आधार उससे बाहर के किसी निकष को बनाने को अनुचित कहा है। जैसाकि मैंने ऊपर कहा, यह लेख साहित्य के स्वरूप विषयक है ही नहीं, साहित्य या कला के स्वरूप पर मैंने अपनी पुस्तकों **चिद्विमर्श, सत्ता विषयक अन्वीक्षा, मूल्यतत्त्व मीमांसा** और **संस्कृति : मानव-कर्तृत्त्व की व्याख्या** में विस्तार से विचार किया है और वहाँ चार पुरुषार्थों का कहीं उल्लेख नहीं है। **कला प्रयोजन** पत्रिका के अंक संख्या 13 में प्रकाशित अपने लेख में मैंने चार पुरुषार्थों की बात की है, किन्तु कला का पुरुषार्थ या अन्वेष्य मूल्य इनमें से किसी पुरुषार्थ को नहीं कहा है बल्कि कला का अपना स्वतंत्र पुरुषार्थ कहा है।

इन दो लेखों के अतिरिक्त उन्होंने 'कथा, मिथक और यथार्थ' लेख के दो वाक्यों को अपनी टिप्पणी का विषय बनाया है और उन वाक्यों को समझने में भी इसी प्रकार अपनी असमर्थता प्रकट की है। ये उद्धृत वाक्य हैं, ''एक तथाकथित जनवादी कथा या कविता यथार्थ से दूर हो सकती है और परियों के लोक की कथा नितांत यथार्थ। उदाहरणतः फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों के पात्र इसलिए यथार्थमूलक हैं क्योंकि उनके द्वारा लेखक अपने अनुभव का सत्य पाता है, किन्तु उससे भी अधिक यथार्थमूलक **रामचरितमानस** है, जिसके पात्र इस लोक से असम्बद्ध हैं, क्योंकि उसमें एक सम्पूर्ण जाति का अनुभव अपना सत्य पाता है।'' इस पर त्रिपाठी जी की टिप्पणी है, ''यहाँ सम्पूर्ण जाति के अनुभव के सत्य का उद्घाटन और लोक से असम्बद्धता के बीच जो कारण-कार्य-सम्बन्ध मान लिया गया है, वह उचित नहीं होगा।'' इसके बाद उन्होंने इन वाक्यों में निगमनात्मक व्याप्ति सम्बन्ध भी देखा है। किन्तु इस प्रतिपादन में कारण-कार्य-सम्बन्ध की या व्याप्ति की कोई परोक्ष विवक्षा भी नहीं है। यहाँ संयुक्त रूप से तीन विवक्षाएं हैं— एक यह कि यथार्थ केवल लोक में स्थूल स्तर पर घटित घटनाएं ही नहीं होतीं, दूसरी यह कि यथातथ लोकपरक घटनाओं के विवरण ही यथार्थपरक विवरण नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होते, तीसरी यह कि व्यापक जातीय चेतनापरक यथार्थ के चित्रण के लिए अलौकिक पात्र अधिक समर्थ माध्यम हो सकते हैं। दो वाक्यों के बीच 'क्योंकि' शब्द का प्रयोग सदैव कारण-कार्य सम्बन्ध का वाचक ही नहीं होता, वह एक हेतुता का या आपादन का वाचक भी हो सकता है। यहाँ यह केवल 'अभिव्यक्ति का अधिक उपयुक्त माध्यम होने' का वाचक है।

आगे त्रिपाठी जी ने पुस्तक के पृष्ठ १८६ से एक उद्धरण देकर कहा है कि वहाँ मैंने काव्य, शिल्प आदि को संस्कृति से बाहर कर दिया है, जबकि दूसरे 'साहित्य और संस्कृति' लेख में इन्हें संस्कृति का अंग कहा है। यदि वे उस प्रसंग को ध्यान में रखते हुए इसे थोड़ा ध्यान से पढ़ते तो उन्हें यह बात स्पष्ट हो जाती कि इन दो प्रतिपादनों में कोई विरोध नहीं है। दूसरे स्थल पर मैं किसी जाति की परमार्थ विषयक दृष्टि की अनुसन्धान-परम्परा को संस्कृति कह रहा हूँ और तब कह रहा हूँ कि इस दृष्टि का अनुसंधान कभी उस संस्कृति के धारक समाज में अधिक सजीव और स्फुट रूप में हो सकता है और कभी नहीं भी हो सकता, कभी समाज उससे च्युत भी हो सकता है। तब मैंने यह कहा है, "संस्कृति सत् और मूल्य विषयक, दूसरे शब्दों में जगत् और जीवन के परमार्थ विषयक, वह दृष्टि होती है जो एक ओर किसी समाज में सार्थकता विषयक मानदण्ड का निर्धारण करती है और दूसरी ओर उसे अपनी व्याख्या में निरन्तर नियुक्त रखती है। इसके विपरीत सभ्यता जीवन की सहज अभिव्यक्ति के क्रम में उद्भूत अर्थों और उनके सम्यक् और विपुल क्रियान्वयन की परम्परा होती है। इस प्रकार कालिदास का काव्य अर्थ की अभिव्यक्ति के रूप में भारतीय सभ्यता की परम्परा का अंग है और आदर्श जीवन की व्याख्या में सांस्कृतिक परम्परा का।" (पृ. 186) यहाँ मैं ध्यान दिलाना चाहूँगा कि मैंने संस्कृति के स्वरूप पर बहुत गहराई और विस्तार से विचार किया है। इस पर दो पूरी पुस्तकें लिखी हैं और बहुत से लेखों में प्रसंगोपात्त रूप से इस पर विचार किया है। इसलिए इस को लेकर ऐसे 'वदतोव्याघात' मैं नहीं कर सकता।

अन्त में त्रिपाठी जी ने कहा है कि शायद "मेरा साहित्य से व्यापक परिचय नहीं है।" 'हाँ, बिल्कुल भी नहीं है। मैंने यह प्राक्कथन में ही कहा है। संस्कार उपन्यास मैंने नहीं पढ़ा, मैंने ऐसा परोक्षतः भी नहीं दिखाया कि मैंने वह पढ़ा है, मैंने वहां केवल प्रो. राजेन्द्रप्रसाद के एक प्रतिपादन पर टिप्पणी की है, जिस प्रतिपादन में उन्होंने इस उपन्यास के एक प्रसंग का उल्लेख किया है। इस प्रसंग का साहित्य से कोई संबंध नहीं है। लेखकों के नाम को लेकर प्रमाद मेरी इस कमी के कारण है कि मैं अधिकांश में उनकी ओर ध्यान नहीं देता। जो पुस्तक पढ़ रहा होता हूँ बहुत बार उस तक के नाम का मुझे ध्यान नहीं होता। किन्तु प्रकाशन में यह प्रमाद नहीं होना चाहिए, इसलिए इस त्रुटि हेतु मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

यशदेव शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीक्षा-लेख

भारतीय साहित्य-मीमांसा : एक आकलन[1]

इस समीक्षा में हमारा उद्देश्य पुस्तक की गुणावगुण-परीक्षा करना नहीं होकर केवल इसके प्रतिपाद्य को सारतः प्रस्तुत करना है।

लेखक का अभिगम प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों को समझाने के लिए वर्तमान में प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों का सहारा लेने का रहा है। 'पूर्वतैयारी' शीर्षक अनुच्छेद में यही बात दूसरे शब्दों में लिखी गई है कि प्राचीन शास्त्र को अकारण जटिल और अबूझ गुत्थी बना देना उसकी कुसेवा ही होगी। उसी प्रकार उसे नकारना भी सही दृष्टि नहीं होगी। इस दृष्टि से वह पृष्ठभूमि के रूप में उन ७ बिन्दुओं के बारे में भारतीय चिन्तन का पूरा ताना बाना बता देता है जिनका एक नैसर्गिक निर्यास है हमारा साहित्य शास्त्र। प्राचीन भारतीयों का वाङ्मय किस प्रकार एक तो ऋषि-प्रणीत अपौरुषेय विद्या अर्थात् वेद-वेदांग वाङ्मय, दूसरे पुरुष-प्रणीत विद्या-पुराण, इतिहास-पुराण तथा तीसरे, ऐतिहासिक पुरुषप्रणीत विद्या अर्थात् शास्त्र और साहित्य में विभाजित है। यह बतलाते हुए एक चार्ट द्वारा लेखक इस समस्त वाङ्मय को एक नैसर्गिक विकास-सूत्र से जोड़ता है। वाग्व्यापार अर्थात् भाषा-व्यापार का महत्त्व उसके साथ ही बतलाया गया है। वेदांगों में भाषा का ही विचार हुआ है, यह उसकी नई स्थापना मननीय है। वेद, वेदांग, कल्पशास्त्र, उपवेद, पुरुषार्थ साहित्य के अतिरिक्त गणित, प्रमाण-शास्त्र, आन्वीक्षिकी तथा सांख्य-वैशेषिक को उनके साथ जोड़कर साहित्य, वार्ताशास्त्र और इन्जिनीयरी-साहित्य तक वाङ्मय के व्यापक फलक को समझाने का लेखक का उद्देश्य समस्त भारतीय चिंतन का परिदृश्य प्रस्तुत कर देना ही है। इसी प्रकार प्राचीन शास्त्रपद्धति का उल्लेख करते हुए वह यह बतलाता है कि किस प्रकार मिथकीय विश्वासों से ऊपर उठकर हमारे यहां उपपत्तियों और वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ ज्ञान का मंथन साथ-साथ चलता है।

---

[1] **(भारतीय साहित्य मीमांसा : एक आकलन — लेखक : प्रो. अशोक रामचन्द्र केळकर अनुवादक : प्रो. ह. श्री. साने, प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य ६०/-)**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहां जो एक बात टिप्पणी के माध्यम से लेखक ने संकेतित कर छोड़ दी है वह हमें वर्षों से झकझोरती रही है। यदि दो शास्त्रकारों ने एक ही प्रमेय पर दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं तो किसे प्रमाण माना जाए? पूर्ववर्ती को या परवर्ती को? प्राचीन वाङ्मय में इसके लिए अलग-अलग व्यवस्थाएं थीं। कुछ शास्त्रों (जैसे पूर्वमीमांसा) में पूर्व-पूर्व-बलीयस्त्व का सिद्धान्त माना जाता था और कुछ में उत्तरोत्तरबलीयस्त्व का। हमारे यहां तत्त्वबोध का सही आकलन करने के लिए दर्शनों और विज्ञानों में (जैसे व्याकरण) यह सिद्धान्त समादृत था कि शास्त्रकारों का प्रामाण्य उत्तरोत्तर अधिकाधिक मान्य है, अर्थात् पूर्ववर्ती आचार्य से परवर्ती आचार्य अधिक मान्य है। क्योंकि वे ज्ञान के विकास-सिद्धान्त को मानते थे। धर्म के बारे में यह धारणा (जो भी बाद में बनी) कि वेद, स्मृति, शास्त्र आदि में पूर्व का ही प्रामाण्य है (अर्थात् वेद अधिक प्रमाणभूत है) उसे यदि ग़लती से शास्त्रों के साथ लगा दिया जाय तो हमारी मूल दृष्टि ही विसंगत हो जायेगी। उसमें तो वही मापदण्ड अपनाना होगा जो व्याकरण ने अपनाया है (यथोत्तरं मुनीनाम् प्रामाण्यम्) कि ज्यों ज्यों ज्ञान विकसित होता है त्यों त्यों नवीनतम शास्त्रकार की बात मान्य होती है। लेखक ने यह बात साफ नहीं की है। उसने केवल संकेत में अपनी यह हिचकिचाहट ज़रूर बता दी है कि साहित्यशास्त्र में भी विकास-विरोधी दकियानूस दृष्टिकोण कभी-कभी अपना लिया जाता था जिसका प्रतीक है यह उक्ति कि मम्मट वाग्देवता के अवतार हैं, अर्थात् उनके बाद जो आचार्य हुए वे उनकी अपेक्षा कम मान्य हैं। वस्तुतः इस पर पृथक् विचार होना चाहिए कि किन-किन शास्त्रों में पूर्व-पूर्व-बलीयस्त्व का सिद्धान्त मान्य था, किन में उत्तरोत्तर-प्रामाण्य का। धर्म में पूर्व-पूर्व-बलीयस्त्व माना जाता था पर जब कलियुग में कुछ धर्म वर्ज्य माने गये तो वहां परवर्ती आचार्य को अधिक प्रमाणभूत माना गया। व्याकरण में ही यह स्पष्ट कहा गया 'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।' लेखक यह विचार-बिन्दु उठाकर बहस आरंभ कर देता तो अच्छा होता। इस पर स्पष्ट विवेचन हो जाता तो और भी अच्छा होता।

लेखक के विवेचन में जो शब्दावली प्रयुक्त है वह मराठी और संस्कृत की परंपरा से सीधे आती है, अतः हिन्दी वालों के लिए बहुत सी नई जानकारियां जोड़ेगी। उदाहरणार्थ हिन्दी में जो 'नागरिक' शब्द प्रचलित है उसके लिए संस्कृत में 'नागरक' आता है। लेखक ने वही प्रयुक्त किया है। उसने संकेत भी किया है कि शब्दों के ऐसे अर्थ-संदर्भ कैसे बदलते हैं। 'वासना' शब्द का उदाहरण देकर उसने बताया है कि इसका अर्थ कभी इच्छा होता है, कभी प्रतिभा, कभी अज्ञान। ठीक भी है। भाव, रस जैसे शब्द अलग-अलग संदर्भों (जिन्हें अंग्रेज़ी भाषाशास्त्र में 'रजिस्टर' कहते हैं) में अलग-अलग अर्थ देते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसीके साथ शब्द-शक्तियों को समझाने का लेखक ने नया ही मार्ग निकाला है। वह 'शब्द-शक्ति' शब्द का प्रयोग नहीं करता बल्कि 'चिह्न-व्यापार' शब्द से वाग्व्यापार तक आता है और ज्ञान-प्रक्रिया का विवेचन करता हुआ संकेत-व्यापार (संकेत-ग्रहण की प्रक्रिया) को समझाने के लिए अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को समझा देता है। इसे एक तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। लेखक यहां 'शब्द-शक्ति' अभिधान का उल्लेख भी कर देता तो अच्छा होता क्योंकि सदियों से छात्र उसे इसी नाम से समझते रहे हैं। यह विषय सदा से काव्यशास्त्र का प्रमुख अंग रहा है। व्यंजना-स्थापन को बड़े ज़ोर-शोर से शास्त्रीय आधार दिया जाता है। पर इसे अधिक तूल न देते हुए लेखक ने शब्द से संकेतों का किस वृत्ति से ग्रहण होता है और क्या कहा जाता है यह सीधे सीधे समझा दिया है। "अन्य शास्त्रों में व्यंजना-वृत्ति नहीं है, काव्यशास्त्र में ही है" आदि कहने में लेखक का प्रयत्न यह लगता है कि समस्त प्राचीन सिद्धान्तों क़ी गुत्थी संक्षेप में खोल दी जाय और एक कड़ी में जोड़ दी जाय। तभी तो वह शब्द-बोध के सिद्धान्त को, जो शास्त्रों के द्वारा मोटे-मोटे ग्रंथों में समझाया गया है, केवल एक पैरा में समझा देता है जो केवल ७ पंक्तियों का है। यहां शाब्द-बोध के महत्त्व और उसके सदियों लम्बे इतिहास के बारे में एक वाक्य में ही सही, यह लिख देना भी संगत होता कि ज्ञान की प्रक्रिया के विवेचन के महत्त्व के कारण शब्द से अर्थबोध किस प्रकार होता है इस पर सुदीर्घ विमर्श हुआ है और अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। वैसे लेखक यहां सूत्र रूप में यह अवश्य कह देता है कि वाक्य से जो वांछित होता है उसे शाब्दबोध कहते हैं। व्याकरण और नव्य न्याय कें मत से आख्यात (क्रिया) केन्द्र में रहता है जबकि प्राचीन न्याय में प्रथमान्त संज्ञा। (यहां 'कर्त्ता' शब्द न कहकर लेखक ने 'प्रथमान्त संज्ञा' कहा है और उसे समझाने के लिए 'उद्देश्य' शब्द का प्रयोग किया है जो अंग्रेज़ी के 'सब्जेक्ट' के समानान्तर है। इस प्रकार का विवेचन उनके लिए ही लाभदायक रहता है जो अंग्रेज़ी पढ़े हुए हैं और उसके पारिभाषिक शब्दों से परिचित हैं।

इस प्रकार ७ चरणों में शास्त्र की पृष्ठभूमि बतला कर लेखक मूल विषय पर आता है और दो बड़े-बड़े अनुच्छेदों में नाटक और काव्य के तत्त्वों का विवेचन करता है। इनमें उसने नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के मूल आधार समझा दिये हैं। उनके अनुसार मीमांसा अर्थात् विवेचन का प्रकार ही उसका अध्येय विषय है, रसों और अलंकारों की सूची देना या भेद बताना नहीं। इसी से नाट्य-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए वह एक नयी विधि अपनाता है जिसमें कवि-कर्म से लेकर नट, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव और स्थायीभाव तक को एक कड़ी में समझाता है। इनको उसने रस-विवेचन के साथ भी समझाया है और नाटक-विवेचन के साथ भी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह उल्लेखनीय है कि यहां उसने टकसाली संज्ञाओं और तरीकों का प्रयोग नहीं किया है। उसके तरीके का अनूठापन यह है कि उसने प्रयोगालंकार के तीन भेद किये हैं --काव्यालंकार, नाट्यालंकार और वर्णालंकार। नाट्यालंकार के भी तीन उपांग बताये हैं, नेपथ्यालंकार, सत्त्वालंकार और पाठ्यालंकार। इन्हीं को आहार्य, आंगिक और वाचिक अभिनय कहा गया है। ठीक भी है। हमें संज्ञाओं से क्या मतलब? विषय समझ में आना चाहिए। तभी तो उसने इन सबका एक चार्ट बना दिया है। पारिभाषिक जटिलता के निराकरण के लिए उसने अंग्रेज़ी के पर्यायवाची शब्द तो दिये ही हैं, सरल उदाहरण भी दिये हैं।

काव्य या नाटक के आस्वादन की प्रक्रिया का विवेचन लेखक ने अपनी ओर से किया है और वह मौलिक है। इसी दृष्टि से प्रक्रिया और उपप्रक्रिया की बात करते हुए वह पाठक को आस्वादन का विषय (कर्त्ता) मानता है और काव्यवस्तु में अलंकार के योग से विभाव, अनुभाव और संचारी के रूप में क्षेपित होकर बननेवाले प्रतिभास को उसकी विशेषता बताता है। यहां वह काव्यशास्त्र की किसी भी संज्ञा का प्रयोग नहीं करता—चमत्कार या रसनिष्पत्ति जैसे किसी शब्द के बजाय प्रतिभा, उज्ज्वलता आदि नई संज्ञाओं का प्रयोग करता है।

इसी प्रकार पांचाली, गौड़ी और वैदर्भी रीतियों को समझाते हुए वह शैली शब्द का प्रयोग नहीं करता जिससे हिन्दी के पाठक अधिक परिचित हैं किन्तु साहित्य-प्रक्रिया की उपप्रक्रिया के रूप में उज्ज्वलता नामक गुण उत्पन्न करने वाले मार्ग के रूप में उन्हें समझाता है। हमारा यह सुझाव है कि इसी क्रम में यदि यह बतला दिया जाता कि संस्कृत काव्यशास्त्र में इनके लिए अमुक-अमुक पारिभाषिक संज्ञाएं प्रयुक्त हुई हैं तो वह छात्रों के भी हित में होता। लेखक के विवेचन से न तो कोई मौलिक तत्त्व स्थापित होता है, न विवेचन-सरणी की नवीनता। इस प्रसंग में आकृति ९ शीर्षक में जो चार्ट बनाया गया है उसको काव्यशास्त्र का अध्येता नहीं समझ पायेगा अतः वह अप्रासंगिक लगता है, क्योंकि उस प्रकार काव्यशास्त्र को पढ़ाया नहीं जाता। एक तटस्थ मीमांसक के अपने कोण से देखने के प्रकार की यह परिणति है जो वह अपनी उपलब्धि समझता हो तो बात अलग है। उससे काव्यशास्त्र की स्पष्टता या विश्लेषण की गहनता किसी में कोई वृद्धि होती हो ऐसा नहीं लगता।

इसी प्रकार अच्छे साहित्य की क्रमिक रूप से उन्नत श्रेणियों का वर्गीकरण लेखक ने इस प्रकार किया है। प्रेयस्वत् साहित्य केवल भावानुकीर्तन करता है, स्थायी भावों का सूचन मात्र करता है। उससे ऊंचा रसवत् साहित्य है जो शृंगार आदि रसों का समुदय करता है। लेखक के शब्द हैं—"शृंगारादि स्थायी भावों का समुदय होता है" (पृ. ८१)। काव्यशास्त्र का तकनीकी अध्येता इसी बात को यों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहता है—"रति आदि स्थायी भावों का शृंगारादि रस के रूप में समुदय होता (निष्पत्ति होती) है।" शृंगार को रस माना जाता है जिसका स्थायी भाव रति है। लेखक ने इसे अपनी भाषा में समझाने के लिए इस प्रकार कहा होगा। किन्तु वस्तुतः स्थायी भावों का समुदय नहीं होता, वे तो स्थायी रूप से ही रहते हैं, रस की ही निष्पत्ति होती है, अर्थात् रस का समुदय होता है। 'भाव' का समुदय कहने से यह भ्रान्ति हो सकती है कि लेखक कहीं उस भाव को तो नहीं समझा रहा जो "रस, भाव, रसाभास, भावाभास" आदि ध्वनिभेदों के रूप में काव्यशास्त्रियों द्वारा गिनाये गये उपभेदों में से एक है? इससे ऊंचा साहित्य ऊर्जस्वी कहलाता है जो स्वगत भावों के साथ परगत भाव भी सिद्ध करता है। उससे भी ऊंचा साहित्य रसिक समाराधना करते हुए सत्त्वोद्रेक तक पहुँच जाता है। यह सर्वोच्च साहित्य कैसा होता है यह हम नहीं समझ पाये। दूसरी श्रेणी के रसवत् साहित्य की बजाय इसमें क्या अंतर है और क्या उत्कृष्टता यह पहेली शायद हमारी समझ में इसलिए नहीं आयी हो कि टकसाली काव्यशास्त्र-विवेचन में ऐसा वर्गीकरण हम कहीं नहीं देख पाये हैं।

अन्तिम अनुच्छेद में विभिन्न सम्प्रदायों, जैसे—रस सम्प्रदाय (भरत), अलंकार सम्प्रदाय (भामह), रीति सम्प्रदाय (दण्डी और वामन), ध्वनि सम्प्रदाय (आनन्दवर्धन), वक्रोक्ति सम्प्रदाय (कुंतक) और औचित्य सम्प्रदाय (क्षेमेन्द्र) का विवरण देते हुए लेखक इस प्रकार के सम्प्रदाय-वर्गीकरण को केवल लकीर पीटने वाला तरीका मानता है और अनुपयुक्त भी। वर्गीकरण के प्रसंग में दो-एक अन्य बातें अवश्य ही इस प्रकार की उठाई गयी हैं जिन पर अब तक नहीं सोचा गया था। एक तो वह यह बतलाता है कि उद्भट, वामन, रुद्रट, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, महिम भट्ट, भट्ट नायक, आनन्दवर्धन, भट्ट तौत, अभिनव गुप्त, मम्मट, रुय्यक आदि सभी आचार्य कश्मीरी थे जिन्हें सबसे बड़े काव्यशास्त्रीय आचार्य माना जाता है। बाकी के भी भोज, धनंजय आदि मालवा के, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि गुजरात के थे, यानि सभी उत्तर भारत के ही रहे। दक्षिण भारत का कोई मूर्धन्य काव्यशास्त्री सामने नहीं आया। राजशेखर अवश्य महाराष्ट्र का था पर वह उत्तर प्रान्त में पहुँच गया था। जगन्नाथ भी था तो आन्ध्र का पर जीवन भर बनारस, दिल्ली आदि में रहा। इससे लगता है कि काव्यशास्त्र पर कश्मीर का या उत्तरभारत का ही एकाधिकार है। भरत, दण्डी, भामह, लोल्लट और शंकुक के प्रदेश का पता नहीं है। (वैसे कुछ लोग दण्डी को दक्षिण भारत का मानते हैं।) भौगोलिक या क्षेत्रीय दृष्टि से इस प्रकार का चिन्तन एक नई दृष्टिभंगी है। अब तक इस दृष्टि से चिन्तन नहीं किया गया था।

एक अन्य दृष्टि से भी श्री केळकर ने रस सिद्धान्त का वर्गीकरण किया है। रससिद्धान्त के तत्त्वों को समझाते हुए लेखक उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्यंजनावाद आदि को तीन टुकड़ों में बांटता है—लौकिकतावादी, मध्यममार्गी और अलौकिकवादी। जो लोग नाटक देखकर रस का उत्पन्न होना मानते हैं वे लौकिकतावादी हुए। अलौकिकतावादी मानते हैं कि प्रेक्षक या पाठक अपने अन्दर सत्त्वोद्रेक का अनुभव करता हुआ ब्रह्मानन्द का सा रस लेता है जो अलौकिक है। भावकत्व सिद्धान्त मानने वालों को मध्यममार्गी माना जा सकता है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न को उठाकर लेखक इस रूप में भी विचार करता है कि रस कविगत होता है, काव्यार्थगत होता है, अभिनयगत होता है, या आस्वाद-प्रक्रियागत? वस्तुतः इस मीमांसा के कारण ही रस-सिद्धान्त के अनेक पक्ष पैदा हुए हैं। यदि रस कविगत या काव्यार्थगत अथवा उक्तिगत ही हो तो गुणों, अलंकारों आदि को अधिक महत्त्व मिलना स्वाभाविक है। यदि भावात्मकता को महत्त्व दिया जाय तो मानना होगा कि रस आस्वाद-प्रक्रियागत है। लेखक ने काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त तकनीकी संज्ञा 'चर्वणा' को, जिसे रस की प्रमुख आधारभित्ति माना गया है, विशेष महत्त्व नहीं दिया। रस-चर्वणा का 'कार्य' रस है, चर्वणा कारणभूत है। इस बात को काव्यशास्त्रियों ने विस्तार से समझाया भी है जिसकी ओर लेखक ने विशेष ध्यान नहीं दिया लगता। अभिनवगुप्त आदि ने स्पष्ट किया है कि जब अच्छा नाटक हो रहा हो उस समय भी नाट्यशाला में बैठे अनेक गँवार और अरसिक लोगों को कोई आनन्द नहीं आता। अच्छे काव्य में भी शुष्क शास्त्रार्थ में जीवन बिताने वाला रूखा पंडित कोई रस नहीं लेता। इन सब तर्कों से सहृदय के अन्दर की संवेदना को रसनिष्पत्ति का मुख्य आधार मानकर अर्थात् रस को सहृदयगत (आस्वादप्रक्रियागत) मानते हुए इस का उत्तर दिया गया है। लेखक यह बतलाता भी है कि रसों की संख्या कितनी है, काव्य के प्रयोजन क्या हैं इत्यादि बातों को उसने अलग रखा है ताकि इस विवाद के घटाटोप में कुछ मुद्दे की बातें ओझल न हो जायें। हम इससे पूर्णतः सहमत हैं क्योंकि ये पाठ्यपुस्तकीय विवरण हैं, शोधपत्र के लायक नहीं।

अन्त में वह **'आगे क्या?'** शीर्षक टिप्पणी में यह सुझाव देता है कि नये परिप्रेक्ष्य में इस प्राचीन परंपरा को जीवित रखने और सार्थक बनाने के लिए एक तो हम अपने मुहावरे में, या उसका अनुवाद आधुनिक पारिभाषिक संज्ञाओं द्वारा करते हुए, उसे समझने का प्रयत्न करें और प्राचीन कृतियों को प्राचीन मापदण्डों पर ही सही, पर नये संदर्भों में परखें।

कलानाथ शास्त्री,
सी ८, पृथ्वीराज मार्ग, सी-स्कीम,
जयपुर ३०२००१

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक समीक्षा

कल्चर एंड वेल्यू, लेखक —विट्गेंस्टाइन, पृ. ६०+१३७+१३७, मूल्य ४००.०० तथा **ऑन सर्टेंटी**, लेखक—वही, पृ. सं. २०+१०९+१०९+१६, मूल्य ३००.००, हिन्दी अनुवाद—अशोक वोहरा, प्रकाशक, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली, एकाधिकृत विक्रेता-नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

कल्चर एंड वेल्यू पुस्तक में विट्गेंस्टाइन की ऐसी टिप्पणियों का संग्रह है जो मनुष्य की मनःस्थितियों विषयक या जीवन-स्थितियों विषयक कही जा सकती हैं। बहुत कुछ ये टिप्पणियां विट्गेंस्टाइन की भी मनःस्थितियों को ही प्रकट करती हैं किसी सुबद्ध-सुचिन्तित विचार को नहीं। इनमें कहीं संस्कृति और मूल्य की अवधारणाओं पर, या इनके व्यवहारगत रूपों पर भी, कोई विचार नहीं है। इसलिए इन्हें दार्शनिक टिप्पणियां नहीं कहा जा सकता, यद्यपि ये काव्यात्मक भी नहीं कही जा सकतीं। किन्तु तब भी ये एक दार्शनिक की टिप्पणियां हैं, इसलिए इनमें दार्शनिक पदावली का ही प्रयोग हुआ है। डॉ. वोहरा ने ४४ पृष्ठों में विट्गेंस्टाइन के जीवन का विवरण भी दिया है जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं, क्योंकि विट्गेंस्टाइन आधुनिक यूरोप के एक मूर्धन्य दार्शनिक थे। उनके जीवन के इस विवरण से पता चलता है कि वे आवेगात्मक रूप से काफी असन्तुलित किन्तु नैतिक रूप से बहुत उत्कृष्ट व्यक्ति थे। उनका चरित्र भौतिकवादी-उपभोक्तावादी संस्कृति से नितांत भिन्न था। किन्तु इन टिप्पणियों से अनुमान होता है कि वे आध्यात्मिक रूप से आलोड़ित या उद्विग्न व्यक्ति नहीं थे।

पुस्तकें अंग्रेज़ी अनुवादों से अनूदित हैं और अंग्रेज़ी अनुवाद हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ दिये गए हैं। जहां तक हिन्दी अनुवाद का सम्बन्ध है, हमने उन्मीलन के जुलाई १९९६ अंक में डॉ. वोहरा द्वारा विट्गेंस्टाइन की एक दूसरी, और आधुनिक दार्शनिक वाङ्मय में बहुचर्चित पुस्तक **इन्वेस्टीगेशंस्** के अनुवाद की बहुत प्रशंसा की थी। वही प्रशंसा इन अनुवादों की भी की जा सकती है। डॉ. वोहरा के अनुवाद की भाषा में स्वाभाविकता और प्रवाह है, जिस गुण से दार्शनिक ग्रंथों के अंग्रेज़ी से हिन्दी में किये गए अधिकांश अनुवाद वंचित हैं। किन्तु इन पुस्तकों में हमें **इन्वेस्टीगेशंस्** के अनुवाद की तुलना में दोष अधिक दिखायी दिये। यों संभव है ऐसी केवल हमारी मान्यता ही हो, वे वास्तव में दोष नहीं हों। यह निर्णय पाठक स्वयं करेंगे, हम अनुवादक और पाठकों के अवलोकनार्थ यहां कुछ उदाहरण अंग्रेज़ी मूल के साथ प्रस्तुत करेंगे और दोषों को रेखांकन के साथ देंगे। डॉ. वोहरा का अनुवाद पहले देंगे और अपना कोष्ठकों के साथ बाद में—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

The human gaze has the power of making things precious; though it is true that they become more costly also.

मानव-दृष्टि में वस्तुओं को प्रेय बनाने की सामर्थ्य है, यद्यपि यह सच ही है कि किसी कारण वस्तुएं बहुमूल्य भी बन जाती हैं। (पृ. ३)

(मानव-दृष्टि में वस्तुओं को मूल्यवान् बनाने की सामर्थ्य है; किन्तु यह भी सच है कि इससे उनका बाज़ार-भाव भी बढ़ जाता है।)

Mendelssohan is perhaps the most untragic of composars.

संगीतकारों में मेंडलसोहन संभवतः सर्वाधिक अ-त्रासद हैं। (पृ. ३)

(संगीतकारों में मेंडलस्सोहन में त्रासदी का भाव संभवतः सबसे कम है।)

Only something supernatural can express the supernatural.

पारलौकिक अभिव्यक्ति ही ईश्वर को अभिव्यक्त कर सकती है। (पृ. ५)

(केवल लोकोत्तर ही कुछ लोकोत्तर सत् को व्यक्त कर सकता है।)

One uses straw to try to stuff the cracks which show in the work of art's organic unity, but to quiet one's consicience one uses the best straw.

कला-कृति की संघटित एकता में कमी दिखाई पड़ने पर हम भूसा भर कर उस कमी को दूर करने की कोशिश करते हैं, पर आत्मतोष के लिए हम अति उत्तम श्रेणी का भूसा ही इस्तेमाल करते हैं।

(कला-कृति की सावयव संरचना (या एकता) में दोष दिखाई देने पर हम भूसा भरकर उन्हें ढँकने का (दृष्टि से बचाने का) प्रयत्न करते हैं, किन्तु अपने औचित्य-बोध के सन्तोष के लिए उत्कृष्टतम भूसे का ही उपयोग करते हैं।)

इस प्रकार के दोष पूरी पुस्तक में देखे जा सकते हैं।

ऑन सर्टेंटी : जैसाकि दर्शन के अधिकांश अध्येताओं को ज्ञात ही होगा, पश्चिम में आधुनिक दर्शन के जनक माने जाने वाले डेकार्ट ने बाह्य जगत् के अस्तित्व में हमारे सहज विश्वास को अयुक्तिसंगत प्रतिपादित किया था और उसके इस 'संदेहवाद' को पीछे बर्कले ने विज्ञप्तिमात्रतावाद के सिद्धान्त से पुष्ट किया था। इसके विरुद्ध युक्ति देते हुए जी.ई.मूर ने हवा में हाथ झुलाकर कहा था ''यह मेरा दायां हाथ है और यह बायां हाथ, इससे सिद्ध है कि बाह्य वस्तुएं असंदिग्ध रूप से हैं।'' इसी प्रकार उसने ''पृथ्वी का अस्तित्व मेरे जन्म से पहले से है'' जैसे वाक्यों के सत्य की विश्वसनीयता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इस पुस्तक में संकलित टिप्पणियों में विट्गेंस्टाइन ने इन वाक्यों को अपने 'भाषा-क्रीड़ा' सिद्धान्त के अनुसार विवेचन किया है और बाह्य वस्तुजगत् में सहज विश्वास को युक्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मानते हुए भी मूर की युक्ति-विधि के दोष दिखाये हैं। यहां हम उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह कर केवल डॉ. वोहरा द्वारा किये गए इस पुस्तक के अनुवाद में दोषों के कुछ उदाहरण ही देंगे। किन्तु इस दोष-दर्शन का अर्थ यह नहीं है कि यह अनुवाद उत्कृष्ट नहीं है। इन दोनों पुस्तकों के अनुवाद की प्रशंसा हम पहले ही कर चुके हैं।

दोषों के कुछ उदाहरण—

4. ``I Know that I am a human being". In order to see how unclear the sense of this proposition is, consider its negation. At most it might be taken to mean ``I know I have the organs of a human." (e.g. a brain which, after all, no one has ever yet seen.)

''मैं जानता हूं कि मैं मानव हूं।'' इस प्रतिज्ञप्ति के अर्थ की अस्पष्टता को जानने के लिए इसके निषेध पर विचार करें। अधिकाधिक इसका अर्थ यही हो सकता है ''मैं जानता हूं कि मैं मानव-अंगों से रचा गया हूं।'' (''उदाहरणार्थ, मेरे शरीर में मस्तिष्क है, जिसे अब तक किसी ने नहीं देखा।'')

(''मैं जानता हूं कि मैं एक मनुष्य हूं।'' यह देखने के लिए कि यह प्रतिज्ञप्ति अपने अर्थ में कितनी अस्पष्ट है, इसके निषेध पर विचार करें। अधिक से अधिक इसका अर्थ यह माना जा सकता है ''मैं जानता हूं कि मेरे अंग एक मनुष्य के जैसे हैं।'' (जैसे, मस्तिष्क, जिसे अभी तक किसी ने कभी देखा नहीं है।)

यद्यपि इस अनुच्छेद के पूरे अनुवाद की रचना बदलना हमें अभीष्ट लगा किन्तु इसमें गल्त केवल एक शब्द है—अधिकाधिक। यद्यपि अधिक से अधिक का भी इस अर्थ में प्रयोग होता है किन्तु वह इस प्रकार, ''उसने इसका अधिक से अधिक मात्रा में उपयोग किया।'' अर्थात् जितना अधिक वह कर सकता था।

16. ``If I konw something, then I also know that I know it." amounts to; ``I know that" means ``I am incapable of being wrong about that." But whether I am so must admit of being established objectively.

''यदि मैं किसी विषय को जानता हूं तो मुझे यह भी पता होता है कि मैं उसे जानता हूं, इत्यादि'' ऐसा कहने का अर्थ है : ''मैं उसे जानता हूं'' का अर्थ है ''मैं उसके बारे में त्रुटि नहीं कर सकता।'' किन्तु मेरे त्रुटि न करने की क्षमता को वस्तुनिष्ठतापूर्वक सिद्ध करना होगा।''

(''यदि मैं किसी विषय को जानता हूं, तो मैं यह भी जानता हूं कि मैं उसे जानता हूं'' का अर्थ है : ''मैं जानता हूं'' का अर्थ है ''मेरा उस सम्बन्ध में ग़ल्ती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर होना असंभव है।'' किन्तु ऐसा वास्तव में भी है या नहीं, यह वस्तुनिष्ठ रूप से सिद्ध होना आवश्यक है।)

१९. इस अनुच्छेद में डॉ. वोहरा ने Illusion के पर्यायवाची के रूप में 'मरीचिका' शब्द का प्रयोग किया है। यहां शायद उसके बजाय 'भ्रांति' शब्द का प्रयोग अधिक उचित होगा, क्योंकि 'मरीचिका' शब्द लोभ, मोहादि मूलक भ्रांति का वाचक है, भ्रांतिमात्र का वाचक नहीं।

20... . Otherwise it would be possible to pointout the discovery of the planet saturn to the doubters and say that its existence has been provead, and hence the existence of the external world as well.

अन्यथा शनिग्रह की खोज के बारे में और उसकी सत्ता के बारे में शंकालुओं को बतलाना और यह कहना संभव होना चाहिये कि उसकी सत्ता बाह्य जगत् की सत्ता-सिद्धि से हो जाती है।

(अन्यथा शंकालुओं को शनि ग्रह की खोज की जानकारी देना और यह कहना कि उसका अस्तित्व में होना सिद्ध कर दिया गया है, इसलिए यह भी सिद्ध है कि बाह्य जगत् का अस्तित्व है, संभव होना चाहिए।)

21. Moor's view really comes down to this : The concept `know' is analogous to the concepts `believe', `Surmise', `doubt', `be convinced' in that the statement ``I know ..." can't be a mistake. And if that is so, then there can be an inferance from such an utterance to the truth of an assertion. And here the form ``I thought I knew" is being overlooked, but if this latter is inadmissible, then a mistake in the assertion must be logically impossible too---an assurance from a reliable man he knows cannot contribute anything.

वास्तव में मूअर के दृष्टिकोण का अर्थ यह है : ''जानने'' के प्रत्यय में और ''विश्वास होने'', ''अनुमान करने'', ''संशय करने'', ''कायल होने'' जैसे प्रत्ययों में उतनी ही समानता है जितना कि ''मैं जानता हूं कि ... '' कथन ग़लत नहीं हो सकता। और यदि ऐसा है तो ऐसे वचन से कथन की सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। पर यहां ''मैं समझता था कि मैं जानता हूं'' इस अभिव्यक्ति को अनदेखा किया जा रहा है। किन्तु यदि उपर्युक्त बात अग्राह्य है तो कथन में त्रुटि भी तार्किक रूप से असंभव होनी चाहिए—किसी भी विश्वस्त व्यक्ति के इस आश्वासन से कि वह जानता है, कुछ भी सिद्ध नहीं होता।''

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(वास्तव में मूर के दृष्टिकोण का यह अर्थ बनता है : "जानने" की अवधारणा "विश्वास करना", "अनुमान लगाना", "निश्चित होना" (जैसी) अवधारणाओं के इस रूप में समान है कि "मैं जानता हूं ... " कथन भी भ्रांतिपरक नहीं हो सकता और यदि ऐसा है, तब इस प्रकार के वाक्य से एक कथन के सत्य का अनुमान लगाया जा सकता है। और यहां "मैं समझता था कि मैं जानता था" इस वाक्य के आकार की अनदेखी की जा रही है—किन्तु यदि यह दूसरा (वाक्य रूप) स्वीकार्य नहीं है तो इस कथन में भ्रान्ति की संभावना भी तर्कतः असंभव होगी—एक विश्वसनीय व्यक्ति से प्राप्त यह आश्वासन कि वह जानता है, कोई योगदान नहीं करता।)

संभवतः यहाँ स्वयं विट्गेंस्टाइन की वाक्य-रचना में भी सुधार के लिए पर्याप्त अवकाश है।

यशदेव शल्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्रय। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्ध का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection